112

मंत्र[illegible]

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक—फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्०

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क ११२

चतुर्द्धरवंशावतंस-श्रीनीलकण्ठप्रणीतं स्वोन्नीतया
मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाव्याख्यया च संवलितम्

मन्त्रभागवतम्

सम्पादिका
सुश्री श्रद्धाकुमारी चौहान, एम० ए०,
व्याख्याता, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर.

प्रकाशक
राजस्थान-राज्य-संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.

१९६९ ई०

15=00

प्रथमावृत्ति १००० मूल्य ~~१.७५~~

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्०
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क ११२

चतुर्द्धरश्रीनीलकण्ठप्रणीतम् स्वोन्नीतया
मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाव्याख्यया च संवलितम्

मन्त्रभागवतम्

प्रकाशक
राजस्थान-राज्याज्ञानुसार
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)
१९६९ ई०
वि० सं० २०२६. भारत राष्ट्रीय शकाब्द १८९१

मुद्रक : जगदीशचन्द्र स्वर्णकार, अजन्ता प्रिण्टर्स, जोधपुर.

प्रधान सम्पादकीय

'मन्त्र-भागवतम्' नामक ग्रन्थ चतुर्धर नीलकण्ठ भट्ट की रचना है, जैसा कि सम्पादिका ने अपनी भूमिका में स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ का महत्त्व विशेष रूप से यह है कि इसमें महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने अपनी वैदिक-व्याख्या-पद्धति का परिचय दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ तथा 'मन्त्ररामायणम्' के आधार पर नीलकण्ठ को यदि प्राचीन दयानन्द कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। परन्तु यह ऐसा दयानन्द था जिसने राम और कृष्ण की कथाओं के लिए भी वैदिक दर्शन का आधार ढूँढ निकाला।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन के लिए कुमारी श्रद्धा को साधुवाद देता हूँ, विशेषकर इसलिए कि उन्होंने अपने स्वास्थ्य के खराब होते हुए तथा अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी ग्रन्थ का सम्पादन कर दिया। श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी और म० श्रीविनयसागर ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जो तत्परता दिखाई उसके लिए मैं उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ। पं० रामकृपालु शर्मा ने कृपा करके अपने संग्रह की न केवल मन्त्रभागवतम् की अपि तु मन्त्ररामायणम् की भी प्रति हमें सुलभ की। इसके लिए हम उनके विशेष रूप से आभारी हैं।

द्वि० श्रावणी पूर्णिमा, २०२६ (वि०) — फतहसिंह

विषयानुक्रमः

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल मिलाकर १०७ वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करते हुए लेखक ने वेद में भागवत-धर्म को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सभी मन्त्रों को गोकुल-काण्ड, वृन्दावन-काण्ड, अक्रूर-काण्ड और मथुरा-काण्ड नामक चार वर्गों में विभाजित किया गया है और इस प्रकार भागवतपुराण के श्रीकृष्णचरित को वैदिक आधार दिया है। वैदिक मन्त्रों में गोपाल कृष्ण के चरित को जानने के लिए वेद के विष्णुरूपी गोपाल के कर्मों को देखना आवश्यक समझते हुए लेखक ने कहा है कि विष्णु का परमपद सत्य और अनन्तज्ञान-स्वरूप है जिसको प्राप्त करने के लिए ही उक्त विष्णु-कर्मों को देखने की आवश्यकता है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्तद्विष्णोः परमं पदम्।
प्राप्तुं मन्त्रेषु गोपालविष्णोः कर्माणि पश्यत ॥

अपने उक्त ध्येय की पूर्ति के लिए ग्रन्थकार ने परमात्मा के शुद्ध, शवल, सूत्र, विराट् तथा विष्णु-नामक पाँच रूप माने हैं जिनमें से विष्णु नित्यसिद्ध ईश्वर है और इन्द्र इत्यादि देवता उसी के आराधन से देवत्व अथवा ईश्वरत्व के भागी होते हैं, किन्तु इन सभी देवताओं में सबके सब समान रूप से अनन्त तथा सर्वेश्वर नहीं हो सकते। इन्द्र आदि देवता अपनी-अपनी उपाधियों के अभिमानी देवता हैं, अतः उनमें से कोई भी ब्रह्म का स्थान नहीं ले सकता। ब्रह्म के ही रूपान्तर इन्द्रादि सभी देवता इस लोक में उसी प्रकार अपनी-अपनी उपाधि से उपहित होकर विद्यमान हैं जिस प्रकार अनेक दर्पणों से युक्त एक ही प्रासाद में एक ही व्यक्ति अनेक रूप धारण कर लेता है। अतः वेद में विभिन्न देवताओं के जो मन्त्र हैं उनमें तत्तद्देवता के बहाने विष्णु की लीला के विस्तार का ही वर्णन हुआ है, क्योंकि विष्णु-रूप ब्रह्म ही सब देवों के रूप में प्रकट हुआ है। इस दृष्टि से ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र का देवता वस्तुतः विष्णु ही है—

यत्किंचिद्देवतो मन्त्रो विष्णुलीलोपबृंहितः।
वैष्णवः स यतो विष्णुः सर्वदैवतनामभृत् ॥

अपने इस मत के प्रतिपादनार्थ, ग्रन्थकार ने मीमांसा-दर्शन में वर्णित अर्थवाद का सहारा लिया है जो कि गुणवाद, हठवाद तथा भूतार्थवाद-नाम से

तीन प्रकार का बताया गया है। इस त्रिविध अर्थवाद के द्वारा लेखक ने सभी वैदिक देवताओं के कार्यकलापों को विष्णु अथवा कृष्णपरक माना है। इसी प्रकार उसके मतानुसार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में वस्तुतः एक ही ऋङ्मय अथवा ऋगनुगामी वेद ही है और उन सबका विषय विष्णु भगवान् की स्तुति-मात्र है—

ऋगारूढानि सामानि तुर्यो वेदोऽपि ऋङ्मयः।
यजूँष्यृगनुगान्येव सवस्तुत्यो जनार्दनः॥

अपनी इसी दृष्टि की पुष्टि के लिए ग्रन्थकार ने यास्काचार्य के इस मत को उद्धृत किया है कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति कर्म-भेद से होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्गाता कहला सकता है उसी प्रकार अपने परमैश्वर्य के कारण एक ही परमात्मा अनेक रूपों में प्रकट होता हुआ माना जा सकता है। इसी की सम्पुष्टि-हेतु ऋग्वेद के मन्त्र (१०.७२.४) का आश्रय लिया गया है जिसमें अदिति से दक्ष की तथा दक्ष से अदिति की उत्पत्ति बताई गई है। लेखक के अनुसार इसका अभिप्राय यही है कि सभी देवों का नामधा देव वस्तुतः एक ही है और सभी वैदिक मन्त्र विष्णुपरक हैं अन्यथा इन मन्त्रों में वर्णित क्रियाओं का सामञ्जस्य नहीं बैठ सकता।

उदाहरणस्वरूप ग्रन्थ में सर्वप्रथम ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र को उपस्थित किया गया है। इस मन्त्र का साधारण अर्थ यह है कि, "मैं उस अग्नि की पूजा करता हूँ जो यज्ञ का पुरोहित, देव, ऋत्विज्, होता तथा रत्नों का दाता है।" इसकी टीका करते हुए कहा गया है कि इस मन्त्र में एक ही अग्नि को यज्ञ का पुरोहित कहने से उसका आहवनीय आदि रूप में अधिकरणत्व, देव कहने से सम्प्रदानत्व, ऋत्विज् कहने से करणकारकत्व, होता कहने से कर्तृकारकत्व तथा रत्नधातम कहने से फलप्रदातृतमत्व बताया गया है, परन्तु इन सभी विशेषणों के समूह का सामञ्जस्य अग्नि की ज्वलन-क्रिया में अथवा उसके अभिमानी अल्पेश्वर देवता में सम्भव नहीं हो सकता। यदि अग्नि में इसकी सम्भावना स्वीकार की जाय तो उसे ही सर्वात्मा ब्रह्म मानना होगा, परन्तु ऋ० १.८९.१० के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि अदिति आदि विग्रह-रूपी विविध उपाधियों वाला एक ब्रह्म ही वस्तुतः सर्वात्मा है और वही विष्णु है।

इसी प्रकार एक के बाद एक जिन १०७ मन्त्रों की व्याख्या इस पुस्तक में प्रस्तुत की गयी है उन सबका प्रयोजन एकमात्र यही सिद्ध करना है कि वेद में विभिन्न देवताओं के रूप में एकमात्र ब्रह्म की ही स्तुति की गयी है। इसी प्रसंग में पाठकों को ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'अस्यवामीय सूक्त' के निम्नलिखित मन्त्र की याद दिलाई गयी है जिसमें विभिन्न वैदिक देवता एक ही सत् के विविध रूप माने गये हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

इस प्रकार चतुर्द्धर नीलकण्ठ भट्ट ने एक अर्थ में वैदिक व्याख्यान में वही कार्य कर दिखाया जो उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहाँ भागवतपुराण में वर्णित कृष्ण-लीला को अवैदिक कहकर ठुकराया वहाँ भट्टजी ने न केवल कृष्ण-शब्द को ऋग्वेद में ढूँढ निकाला अपि तु भागवत के कृष्णसम्बन्धी गोकुल, वृन्दावन तथा मथुरा की कल्पना को वैदिक आधार दे दिया है। छान्दोग्य-उपनिषत् में उल्लिखित आदित्य की "कृष्णभा" (तेज) का ऋग्वैदिक कृष्ण के साथ समीकरण करते हुए कृष्ण-शब्द को ब्रह्म का वाचक सिद्ध करने के लिए उसकी निम्नलिखित व्युत्पत्ति उपस्थित की—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।

इसी परब्रह्म-रूप कृष्ण को सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम सृष्टि में इक्कीस रूपों में प्रविष्ट हुआ सिद्ध करने के लिए एक यजुर्वेदीय मन्त्र को भी प्रस्तुत किया गया है और बाद में गोकुल एवं वृन्दावन की कई कृष्ण-लीलाओं का अस्तित्व ऋग्वेद की ऋचाओं में ढूँढा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस छोटी-सी पुस्तक में नीलकण्ठ भट्ट ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं अद्भुत भाष्यशैली के चमत्कार को प्रदर्शित किया है।

लेखक की अन्य कृतियाँ

'मन्त्र-भागवतम्' लेखक की कोई अकेली कृति नहीं है जिसमें कि उसने अपनी वेदव्याख्यान-शैली को खींचतान कर उपस्थित किया हो। इसी पुस्तक के समान उसकी एक अन्य रचना 'मन्त्ररामायणम्' भी है जिसमें उसने वैदिक मन्त्रों के आधार पर रामकथा का मूल वेदों में खोजा है। उस ग्रन्थ

के मंगलाचरण में लेखक ने रामायण-रूपी वृक्ष का बीज गायत्री-मन्त्र को माना है और उसकी जड़ वेद तथा फल मोक्ष है। इसीलिए गायत्री के २४ अक्षरों के आधार पर वाल्मीकि ने रामायण के २४ हजार श्लोक बनाये और उसके वैदिक आधार का संकेत करने के लिए राम-जन्म के प्रसंग में 'वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे' कहा। लेखक ने अपने मत की पुष्टि में अगस्त्यसंहिता का यह वचन उद्धृत किया है—

स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदार्थपरिनिष्ठितम्।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राह्यत प्रभुः।।
काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।

वेद के उपबृंहण के विषय में नीलकण्ठ भट्ट का कथन है कि इसका अभिप्राय यही है कि गायत्री में उल्लिखित सविता ही ब्रह्माण्ड-वृक्ष के प्रसविता ब्रह्म हैं; उन्हीं के वर्णनीय तेजस्वरूप हिरण्मय पुरुष राम-कृष्णादि के रूप में रामकथा अथवा कृष्णकथा में बताये गये हैं। अतः उन्होंने वेदों के इन्द्रवृत्र-संग्राम को ही राम-रावण-युद्ध मानकर वैदिक प्रतीकों को ही रामायण में देखा है।

मन्त्ररामायणम् के अतिरिक्त लेखक ने महाभारत की टीका भी लिखी है और उसमें भी कृष्ण को वेदवंद्य ब्रह्म ही माना है तथा कौरवों और पाण्डवों के द्विविध पक्षों में देवों और असुरों को स्वीकार करके रामायण तथा भागवत के कथाप्रसङ्ग के समान उस महाग्रन्थ में भी उसी ब्रह्म को आधारभूत सत्ता माना है जो लेखक के मतानुसार ऋग्वेद में अपने को 'अहमनुरभवम्' इत्यादि मन्त्रों में मनु आदि महापुरुषों के रूप में प्रकट होता है। लेखक ने 'भारत-भाव-दीप' नामक इस टीका में विभिन्न देशों से महाभारत की प्रतियाँ एकत्र करके पाठों का निश्चय किया था और विभिन्न कोशों तथा पूर्व विद्वानों के वचनों का अनुसरण करके भाष्य निर्माण किया था। नीलकण्ठ की महाभारत पर लिखी हुई टीका विद्वानों में निरन्तर आदर पाती रही। यद्यपि यह टीका बहुत ही संक्षिप्त है फिर भी यत्र तत्र पाठान्तरों का निर्देश किया गया है और कम से कम एक स्थान पर टीकाकार ने उपलब्ध पाठ का अर्थ करने में अपनी असमर्थता भी व्यक्त की है। थियोडोर आफ्रेक्ट के कैटालॉगस कटलॉगरम में लेखक की कुल मिलाकर ग्यारह कृतियाँ बताई गई हैं जिनमें से भारतभावदीप, मन्त्रभागवत तथा मन्त्ररामायण के अतिरिक्त अन्य आठ निम्नलिखित हैं:—

१ मन्त्रकाशीखण्डम् (सटीक)। २ मन्त्रशारीरकम् (सटीक)। ३ वेदान्तकटकम्। ४ षट्तन्त्रसार। ५ हरिवंशटीका। ६ गणेशगीता-टीका। ७ सौरपौराणिकमतसमर्थनम्। ८ शिवताण्डवतन्त्रव्याख्या।

डॉ० सुखशंकर ने महाभारत की भूमिका में इनका 'मन्त्ररहस्यप्रकाशिका' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है, परन्तु सम्भवतः यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर मन्त्रभागवत, मन्त्ररामायण आदि जैसे ग्रन्थों का संग्रहमात्र ही हो सकता है।

उपर्युक्त आठ ग्रन्थों में से हरिवंशटीका के अतिरिक्त अंशतः शिवताण्डवतन्त्र-व्याख्या उपलब्ध हुई है जिसको लेखक ने बीकानेर नगर में महाराजा अनूपसिंह के कहने से लिखा था। मन्त्रकाशीखण्ड-टीका यद्यपि अप्राप्य है, परन्तु हो सकता है कि यह भी उसी काल की रचना हो और इसमें मन्त्रभागवत तथा मन्त्ररामायण के समान ही हिन्दू-धर्म के शैवागम को भी वैदिक आधार देने का प्रयत्न किया गया हो।

लेखक का परिचय

लेखक ने ग्रन्थों में अपने विषय में यही कहा है कि वह चतुर्धर (चौधरी)-वंशीय गोविन्दसूरि तथा फुल्लाम्बिका का पुत्र था और उसका जन्म-स्थान महाराष्ट्र में गोदावरी-तट पर स्थित कूरपर ग्राम था। बीकानेर के महाराज अनूपसिंह के राज्यकाल में शिवताण्डवतन्त्र व्याख्या की रचना होने से यह निश्चित है कि वह उक्त महाराजा के राज्यकाल (१७२६-१७५५ वि० सं०) में कभी राजस्थान में अवश्य रहा था। टीकाकार अपने प्रत्येक ग्रन्थ में लक्ष्मणार्य को विशेष रूप से याद करता है। उदाहरण के लिए मन्त्ररामायण का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

लक्ष्मणार्यपरतां गिरामिमां लक्ष्मणार्यपुरुषेण दर्शिताम्।
साङ्गवेदपदवाक्यमानवित् कोऽपि वीक्ष्य सुमतिः प्रमोदताम् ॥१॥

लक्ष्मण रामानुज का पर्यायवाचक है; अतः लक्ष्मणार्य अथवा लक्ष्मणार्य-पुरुष शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध रामानुजाचार्य के लिए हुआ प्रतीत होता है। चतुर्धर नीलकण्ठ भट्ट निस्सन्देह रामानुज-सम्प्रदाय में श्रद्धा रखते थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन प्रारम्भ में राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के संग्रह में स्थित प्रति के आधार पर ही किया गया था, परन्तु प्रकाशन के पूर्व ही

जयपुर के श्रीरामकृपालु शर्मा के संग्रह में इस पुस्तक की एक प्रति और मिल गयी। अतः पाठान्तरों के लिए उसका भी उपयोग किया गया। दोनों प्रतियों का परिचय निम्नलिखित है :—

(क) संज्ञक प्रति—

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, संग्रह विभाग-ग्रंथाङ्क ३६३०६।

आकार—३०×१४ से० मी०।

पत्र—२५; पंक्ति १४; अक्षर—५२।

लेखनकाल—अनुमानतः १६ वीं शताब्दी। त्रिपाठ।

प्रति के अक्षर सुवाच्य हैं। उन्हें शुद्धतम तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु सामान्यतः शुद्ध हैं।

(ख) संज्ञक प्रति—

श्री रामकृपालु शर्मा संग्रह, जयपुर।

आकार—२६×१३ से० मी०।

पत्र—३२; प्रथम एवं ग्यारहवां पत्र अप्राप्त।

पंक्ति—१२; अक्षर—५२।

लेखनकाल—अनुमानतः १६ वीं शताब्दी।

प्रति अशुद्ध है। इसके पाठान्तर या पाठभेद ख. संज्ञा से पादटिप्पणी में दिये गये हैं और जो पाठ 'क' में छूट गया और जो 'ख' में प्राप्त है उसे मूलपाठ में ही दीर्घ कोष्ठक [ ] के अन्तर्गत दिया गया है।

अन्त में, मैं राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के अधिकारियों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ के सम्पादन करने का अवसर प्रदान किया। श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी और म० विनयसागरजी ने पाण्डुलिपि पढ़ने, प्रूफ-संशोधन करने तथा सम्पादन-कार्य में जो बहुमूल्य सुझाव तथा सहयोग मुझे दिया उसके लिए मैं इन दोनों सज्जनों की विशेष रूप से आभारी हूँ।

द्वि० श्रावण शु० ५, २०२६ (वि०) श्रद्धा चौहान

चतुर्द्धरश्रीनीलकण्ठभट्टविरचितम्

मन्त्र-भागवतम्

मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाव्याख्यासंवलितम्

१. गोकुलकाण्डम्

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्तद्विष्णोः परमं पदम् ।
प्राप्तुं मन्त्रेषु गोपालविष्णोः कर्माणि पश्यत ॥१॥

ननु सत्यादिलक्षणमखण्डैकरसं विष्णोः परमम्पदनीयं स्वरूपं चेन्निरविद्ये तत्राविद्यावद्विषयाणि कर्माणि न सम्भवन्ति, नितरां क्रियापराणां मन्त्राणां तत्प्रकाशनपरत्वं न त्वीषत्कर्मावगत्या परमपदप्राप्तिः सम्भवतीत्ययोग्येऽर्थे नियोग इति चेत् । सत्यम् । सन्ति परमात्मनः पञ्चरूपाणि भूबीजाङ्कुरतरुफलोपमानि शुद्धशवलसूत्रविराट्विष्णुसंज्ञानि । तत्र भूमेर्बीजादय इव शुद्धाच्छवलादयो नातिरिच्यन्तेऽथापि वृक्षे परिणतानेकबीजगर्भफलमिव विराजिविष्णुरनेकशबलगर्भोऽस्ति । स च कारणकारणत्वान्मूर्त्तत्वाच्चानेकब्रह्माण्डाश्रयो धरोद्धरणाद्यनेककर्माश्रयश्च 'तस्यर्क् च साम च गेष्णौ यस्य रूपं बिभ्रदिमामविन्द'दित्यादिश्रुतिभ्यः तस्य पृषोंतरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश इत्यादिना प्रागुक्तस्य द्वि(वि)धेर्वली श्रुतं ह्यश्वेष्टिरुत्सृज्यं कल्पं कर्त्तारमृच्छति । वर्गाग्निः सामवागेवर्कः प्राणः सामेति च पृथिव्यादिः प्रपञ्चऋक्सामे गेष्णौ आङ्गुलिपर्वणी यस्य वराहस्य इमां पृथिवीमिति श्रुतिपदानामर्थः । सोऽयं विष्णुर्नित्यसिद्ध ईश्वरोऽन्ये तु तदाराधनसिद्धा इन्द्राद्या ईश्वराः शलाटव इव फलभावं प्राप्तास्ते च सर्वेश्वरा इति श्रूयन्ते । त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता इति । तत्र बहूनां सर्वेश्वरत्वासम्भवादेक एवायं गोत्वादिवज्जलचन्द्रवद्वा प्रतिदैवतं परिसमाप्तं इति स्वधर्मैरिव देवताधर्मैरपि स्तूयते । उपहितेषूपाधिधर्मान्वियदर्शनात् । नतूपाध्यभिमानिनी देवता स्वधर्मैरिव ब्रह्मधर्मैः स्तोतुं शक्या उपाधावुपहितधर्मान्वये तत्स्वरूपलोपप्रसंगात् ।

गच्छतीत्वघटाकाशो घटे गच्छति तूच्यते ।
घटाकाशस्य नैस्पर्श्यं घटेऽस्तीति तु दुर्वचम् ॥[१]

यथा चाहुः—

समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् ।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥ इति ।

अथ मन्त्रसङ्ग्रहः—

एकैकस्मिन् यथादर्शे प्रासादौ मुकुरान्तरैः ।
सहितो दृश्यते देवेष्वेवं लोकः सुरान्तरैः ॥ १ ॥
तस्मात् स्युर्देवताः सर्वा इन्द्राद्या विश्वयोनयः ।
अन्योन्ययोनयश्चैव यथा यास्कमुनीरितम् ॥ २ ॥
यत्किञ्चिद्देवतो मन्त्रो विष्णुलीलोपबृंहितः ।
वैष्णवः स यतो विष्णुः सर्वदैवतनामभृत् ॥ ३ ॥
ऋचां दशतयीस्थानां प्रायः शस्त्रेषु संग्रहः ।
श्रुतशस्त्रनयाच्छस्त्रं स्तुतौ सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ४ ॥

[२][दशमण्डलान्यवयवा यस्याः सा दशतयी बह्वृचः सन्ति तास्तत्रस्थानामृचां शस्त्रेषु अप्रगीतमन्त्रसाध्येषु देवतास्तवनेषु प्रायेण विनियोगोऽस्ति; वाचस्तोमाख्ये सर्वासामप्यृचां शस्त्रेषु विनियोगदर्शनात् यावतीः कामपीतृ तावतीः शेलेदिति स्तुतेति त्रिविधा मन्त्राः क्रियास्मारकाः, यागकारका देवतास्तावकाश्चेति; तत्रेषेत्वेति शाखामाछिनत्ति, ऊर्ज्जेत्वन्येनुमार्ष्टीति श्रौतविनियोगात् इषेत्वादयो मन्त्राः शाखाछेदनादीनां क्रियानां स्मारका इति करणमन्त्रा इत्युच्यन्ते, एत एव.पघातादिवद्दृष्टार्थः, तथाग्नयेनुकृति अग्निपतये यजामहेऽग्निं मितसकृद्यष्टेव्यदेवतासंकीर्त्तनपद्यमाना अग्निमूर्द्धाभुवा यज्ञस्येत्यादयस्तेन पत्नीक्रियाः स्मारकाः उदाहृतशव्दैरेव तस्याः स्मृतत्वात्, अपि तु संस्कारका एव। एवं चैतन्मन्त्रपाठपूर्वकं कृतो यागः संस्कृतस्तन्न-पूर्वजनपीतृसमर्थो भवति । नान्यथा तेनैते मन्त्रा यागाङ्गभृता अप्यवघातादिवत्तद्दृष्टार्थाः, अपि तु प्रोक्षपादिवददृष्टार्था एव। एतु आज्यैः वतेष्ट्टेः स्तुवते प्र उगं ज्ञप्ततीत्यादि विधिविहिताः, गीतमन्त्रसाध्यस्तवनरूपस्तोत्रशास्त्रार्थास्तेऽपि न क्रियाङ्गभृताः, अपि तु स्वतन्त्राऽयथाग्रयादीनां प्रणामपूर्वार्थत्वे-

१. क. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

२ [--] कोष्ठान्तर्गतांशः क.पुस्तके नास्ति । किन्तु पञ्चषष्ठ-पद्ये पुस्तके विद्येत एव ।

ऽपि न मिथोऽङ्गाङ्गिभावः। एवं सोमयागस्तोत्रशस्त्राणामपि समुच्चितानामेकफलार्थत्वेऽपि मिथो नाङ्गाङ्गिभावः। प्रयाजदर्शपूर्णमासवत् तथा च सूत्रम् 'अपि वा श्रुति संयोगात् प्रकरणे स्तौति शंसति। क्रियो सतो विदध्याता' मिति तदेतदाह- 'स्तुतशस्त्रनयात् सर्वं स्तुतौ शस्त्रं प्रतिष्ठितम्' इति।

ऋगारूढानि सामानि तुर्यो वेदोऽपि ऋङ्मयः।
यजूंष्यृगनुगान्येव सर्वस्तुत्यो जनार्दनः॥ ५॥
अविरोधादपूर्वत्वाद्देवताविग्रहादिकम्।
मन्त्रार्थवादप्रामाण्यान्मनुते बादरायणः॥ ६॥

अविरोधादिति।

विरोधे गुणवादः स्याद्धठवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धयानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥

यजमानः प्रस्तर इत्यादिर्यजमानवत्प्रस्तर इति गुणवादमात्रं गदात्प्रतीयमानस्य यजमानप्रस्तरयोरभेदस्य प्रत्यक्षविरोधत्वात् 'अग्निर्हिमस्य भेषज' मित्यादिरनुवादः, तदर्थस्य लोकेऽवधृतत्वात् 'मेधातिथिं कथगयनं मेषो भूवेन्द्रो जहारे' त्यादिर्विरोधानुवादयोरभावाद्गतार्थवादोऽयम्—

'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता।
फलप्रदातृत्वमपि नित्यानि परमेश्वरे॥

इति पञ्चकविग्रहादिकम्।

जगन्मातर्दक्षिणामिन्द्रहस्तं अद्रीर्दिद्रप्रस्थिते,
मा हवींषि इन्द्रो दिव इन्द्र ई पृथिव्याः।
तस्मादिन्द्रः स्तूयमानः प्रीतो मनसा हिरण्यरथं ददाविति॥६॥
अर्थवादसमुन्नीतविधिमुख्याद्विधेर्बली।
श्रुतं ह्यत्येष्टितमृज्य कर्त्तारं कृष्णमृच्छति॥७॥

अर्थवादेति। प्रजापतिर्वरुणायाश्वमानयत् स त्वां देवतामार्थत तर्पयदीयते स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, इत्यर्थवादपदश्रवणेऽश्वदातुर्वारुणीष्टिः प्रतीयते; यावतोऽश्वान् प्रतिग्रहणाय तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेदिति विधिवाक् प्रतिग्रहीतुः सा प्रतीयते। तत्राश्वे जातविरोधादर्थवादादूर्ध्वं श्रुतसञ्जातविरोधित्वाद्विधिवाक्यमेव यावतोऽश्वान् प्रतिग्राहेदिति परिणामेन पूर्वोक्तोपक्रान्तेनैकवाक्यतां नीयत इति सिद्धान्तः॥७॥]

मह्वाभाग्याद्देवताया इत्युपक्रम्य प्रकृतिसार्वनाम्याच्चेतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतय इति **यास्कः**। यो देवानां नामधा एक एव अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाददितिः परीति श्रुतयश्चैतमर्थं दर्शयन्ति। तस्मात्सिद्धं सर्वेषां मन्त्राणां विष्णुपरत्वम् क्रियापरत्वं तु तेषामुपचारात् तद्गतब्रह्मलिङ्गानां क्रियाङ्गैः सामञ्जस्येनान्वयायोगात्। तथा हि—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातममित्यत्र मन्त्र एकस्यैवाग्नेः स्तुतिकर्मणः यज्ञं प्रति पुरोहितमित्यनेन आहवनीयादिरूपेणाधिकरणत्वं, देवमित्यनेन सम्प्रदानत्वं, ऋत्विजमित्यनेन करणकारकत्वं, होतारमित्यनेन कर्तृकारकत्वं, रत्नधातममित्यनेन फलप्रदातृतमत्वं चोक्तम्। न चैतद्विशेषणजातसामंजस्येन ज्वलने तदभिमानिन्यल्पेश्वरे वा सम्भवति। नहि सर्वस्मिन् यज्ञे सम्प्रदानत्वं मुख्यं फलप्रदत्वं धातममुक्तं मुख्यमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यस्यास्ति तथा होतारमृत्विजमिति सामानाधिकरण्ये ऋत्विजमित्यनर्थकं स्यात्; तेनैव च होतुरपि लाभाद्धोतृपदं यजमानपरमेवेत्युचितम्; ततश्च सार्वात्म्यधर्मेणानुग्राहकत्वधर्मेण चाग्न्युपाधिको मुख्य ईश्वर एवात्र स्तुतो भवति। मुख्यया वृत्या एवमदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमित्यादावप्यदित्यादिविग्रहोपाधिकस्य ब्रह्मण एव सार्वात्म्यं सिद्धमेव कीर्त्यते। न त्वभूतं तददितिस्तुत्यर्थमुपन्यस्यते यजमानः प्रस्तर इत्याद्यर्थवादवत्। अन्यथा मन्त्राणामर्थवादानां वा विशेषापत्तेरिति दिक्। एवमप्याधानगतेष्टिविशेषे सौविष्टकृत्यां संयाज्यायां विनियुक्तोयं मन्त्रो ब्राह्मणविद्भिरग्निर्देवतापरतयैव व्याख्यातः कर्मसमृद्धचर्थं, तत्र च नासंकोचेन विशेषणानामन्वय इत्यार्या एव विदाङ्कुर्वन्तु। एवं इषेत्वेतिमन्त्रेऽपीष इति इष्यमाणार्थलाभार्थे त्वेति प्रातिपदिकान्तेन तत्प्रदानसमर्थं चेतनं सम्बोध्यमुपक्षिप्य द्वितीयाविभक्त्या तस्य उत्पाद्यत्व-विकार्यत्व-संस्कार्यत्व-रूपकर्मत्वासम्भवादाप्यत्वमेवोच्यते। तत्रेष्यमाणभेदादाप्तभेदाच्चेत्वयमर्थः प्रतीयते—हे कैवल्यप्रद! त्वां कैवल्यार्थे कण्ठगतविस्मृतचामीकरवदज्ञानमात्रापगमेनावाप्तवानीति, वा हे सार्वात्म्यप्रद! त्वां सार्वात्म्यार्थं नदीसमुद्रवत्परिच्छेदाभिमानत्यागादवाप्तवानीति, वा हे सारूप्यप्रद! त्वां सारूप्यार्थं कीटभृङ्गवद् ध्यानेनावाप्तवानीति, वा हे स्वर्गप्रद! त्वां स्वर्गार्थकर्मणा ग्रामवद

प्यवाप्तवानीति, वा यद्वा यत्कृष्णो रूपमित्यत्र वक्ष्यमाणरीत्या हे शाखिशाखावच्छिन्न परमेश्वर ! त्वां शाखारूपं, इषेऽन्नाय छेदनक्रिययाऽवाप्तवानीति, वा तत्र पूर्व-पूर्वापेक्षया उत्तर उत्तरोऽर्थो जघन्य इति स्वसंवेद्यमथापि इषेत्वेति शाखामाछिन-त्तीति अन्नं वा इष इतीति च ब्राह्मणविदः, हे शाखे ! त्वां अन्नाय छिनद्मीत्यत्यन्त-परोक्षवृत्या व्याचक्षते—कर्मसमृद्ध्यर्थं न तावता मन्त्रः स्वारसिकमर्थं जहाति। नहि कदाचन स्तरीरसीत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठत इत्यादाविन्द्रपदस्य लक्षणया कर्मकाले गार्हपत्योपस्थापकत्वेऽप्यृच ऐन्द्रीत्वं विहन्यते ऐन्द्रीत्यस्यानर्थक्यापत्तेः। तस्मान्मन्त्राणां स्वारसिकमीश्वरपरत्वं सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीतिश्रुतेश्च तत्समत्वं क्रियापरत्वं तु विनियोगवशाज्जाघन्यवृत्येति सिद्धम्। स एवम्भूतो विष्णुः परमकारुणिको नामभिः कर्मभिश्चास्मदादिभिरार्त्तैराहूयमानः स्तूयमानश्च स्वस्य वैश्वरूप्यं अर्जुनादिभ्य इव इतरेभ्योऽप्याविष्करोति। तद्द्वारा च वैष्णवं परमं पदं सत्यादिलक्षणमात्मीयं प्रापयतीति युक्ततरोऽयं नियोगो यन्मन्त्रेषु विष्णोः कर्माणि पश्यतेति तस्यैवं फलोपमस्य विष्णोर्नमस्यत्वं स्तुत्यत्वं च विरूप-दृष्टौ मंत्रावाहतुः।

तं नेमिमृभवो यथाऽऽनमस्व सहूतिभिः।
नेदीयो यज्ञमङ्गिरः॥१॥

तं नेमिमिति—हे अङ्गिरः ! तं परमेश्वरं ऋभवो[1] यथा आनमन्ति एवं त्वमपि आनमस्व, सहूतिभिः समानैः योग्यैराह्वानैः भो भगवन् ! नमस्त इत्येवं भावयतेत्यर्थः। नेदीयो नेदीयांसं[2] सन्निहिततरमन्तर्यामिणमित्यर्थः। तथा च मन्त्रान्तरे अस्ति ज्यायान् कनीयस उपरि इति। उपरि समीपे, कीदृशं तं नेमिं संसारचक्रस्य कालचक्रस्य वा आद्यन्तशून्यस्यापि नेमिं नेमिमिव परिधिभूतम्। अत्र फलोपमस्य परिच्छेदकत्वे नेम्यादिदृष्टान्तः। वृक्षोपमस्य त्वाकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः सूक्ष्म इत्यादिदृष्टान्तोऽनुरूप इति बोध्यम्। पुनः कीदृशं यज्ञं हविरातिथ्यं निरूप्य स सोमे राजन्यागत इत्युपक्रम्य वैष्णवो भवति विष्णुर्वैयज्ञस्तस्मा एतद्धविरातिथ्यं निरूप्यत इत्युपसंहारात्सोमाभिमानिनं यज्ञापरनामानं विष्णुं तेन यावान् सौम्यो मन्त्रः स सर्वोऽपि वैष्णव इति गम्यते॥१॥

---

१ ख. ऋभवो देवाः। २ ख. ०सुपां सुलुक्, इति सुपो लुक्।

अष्टकाध्यायवर्गञ्च सूचनामंकलेखनम् ।
मन्त्रभागवते ज्ञेयं प्रकीर्णत्वादृचामिह ।।१।।[1]

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया ।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ।।२।।

तस्मा इति । तस्मै यज्ञापरमनाम्ने विष्णवे नूनं निश्चितं अभिद्यवे द्योः अव्याकृताकाशस्य जगत्कारणस्य बीजोपमस्य अभितो वर्त्तमानाय फलोपमाय नित्यया वाचाऽपौरुषेयवेदरूपया सरस्वत्या हे विरूप ! सुष्टुतिं शोभनास्तुतिं चोदस्व प्रेरयस्व । कीदृशाय तस्मै, वृष्णे अभिमतफलवर्षिणे ।।२।।

अथ पौरुषीणामपि वाचामयमेव स्तुत्य इत्याह **नाभाकः**—

यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता ।
त्रितं जूती सपर्यत व्रजे गावो न संयुजे युजे अश्वाँ
अयुक्षत नभन्तामन्यके समे ।।३।।

यस्मिन्निति—यस्मिन्नीश्वरे विश्वानि सर्वाणि काव्या काव्यानि व्यासवाल्मीकिप्रभृतिभिः कविभिः कृतानि भारतरामायणादीनि श्रिता श्रितानि पर्य्यवसन्नानि । एतेषां प्रतिकल्पवर्णानुपूर्वीभेदेऽप्यर्थतो भेदाभावान्नित्यत्वमभिप्रेत्योक्तं—वेदेऽपि यस्मिन् काव्यानि श्रितानीति । तत्र दृष्टान्तः-चक्रे नाभिरिवेति । यथा नाभिः चक्रस्यैकदेशं व्याप्नोति एवं काव्यानि लेशत एनं वर्णयन्तीत्यर्थः । तमेतं त्रितं त्रयाणां गुणानां तनितारं मायाया अपि स्रष्टारं जूती जूत्या मत्या ध्यानेनेति यावत्; मतिर्मनीषा[2] जूतिः स्मृतिः सङ्कल्प इति ऐतरेयके[3] धीवृत्तिनामसु[4] जूतिशब्दस्य पाठात्, सपर्यत पूजयत । तं कं, येन व्रजे गोकुले गावः प्रसिद्धाः, इवार्थे संयुजे एकीभावेन युज्यत इति संयुक् तस्मै पित्रे स हि जातकर्मणि आत्मा वै पुत्रनामासीति मन्त्रं पठन्नभेदाध्यासेन पुत्रं स्पृशत, पितुः प्रियार्थं यथा गोकुले गावो रक्षिता. एवं युजे सख्येऽर्जुनप्रियार्थं अश्वान्, तस्यैव रथे तुरगान् अयुक्ष्यत योजितवान्, अर्जुनस्य सारथ्यं कृतवानित्यर्थः । उभयत्र प्रयोजनं नभन्तामन्यके

---

१ पद्यमिदं नास्ति ख. पुस्तके । २ ख. धृतिर्मनीषा । ३ ख. नास्ति । ४ ख. धीवृत्तिषु जूतिषु ।

सम इति। कुत्सिता अन्ये अन्यके दुःशत्रवः समे सर्वे, नभन्तां हिंस्यन्तामिति, माभूवन्नन्यके सर्वं इति यास्कः। अत्र युजे-संयुजे पदाभ्यामर्जुं ननन्दावेव ग्रहीतुं युक्तौ पुराणेतिहासप्रामाण्याद् 'व्रजादिपदान्तरसमभिव्याहाराच्च'[1] इति सहृदयावेव विदाङ्कुर्वन्तु 'अत्र का श्रिता इत्यात्वं जूती इति पूर्वसवर्णश्च विभक्तेः सुपां सुलुक् इत्यनेनैव'[2] ॥३॥

यो नमस्यः स्तुत्यः सर्वकाव्याश्रयश्च तस्य स्वरूपं अस्यवामीये सूक्ते मन्त्रद्वयेन दर्शयति—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४॥

इन्द्रं मित्रमिति। यदिदं सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यादिवेदान्तप्रसिद्धं एकमद्वितीयं, सत् तदेव विप्रा विद्वांसो बहुधा बहुप्रकारेण वदन्ति कथयन्ति, तमेव इन्द्रं मित्रादिरूपं चाहुः; यश्च सुपर्णो गरुत्मान्, दिव्यो द्योतमानश्च तथा अग्न्यादींश्च तमेवाहुः, अत्राहुर्वदन्ति, आहुरित्याभासोऽर्थस्य भूयस्त्वं द्योतयति अहो दर्शनीया अहो दर्शनीयेतिवत् ॥४॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥५॥

कृष्णमिति—यदेवं सर्वदेवतारूपं सत् तदेवं कृष्णं 'यदादित्यस्य कृष्णं भा इति छान्दोग्ये श्रुतं'[3] सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्ति,

'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥'

[4]इति शास्त्रप्रसिद्धं सत्यानन्दस्वरूपं भाशब्दितं ज्योतिर्गायत्र्यामपि भर्गशब्दोदितं, नियानं यान्त्यत्रेति यानं स्थानं निहीनं यानमस्य नियानं भूतलस्थायि अनुलक्ष्य सुपर्णाः शोभनपतनाः हरयः यज्ञभागहराः सन्तो ये दिवमुत्पतन्ति क्षणमपि भूमौ न तिष्ठन्ति। तेऽपि देवाः अपोवसानाः, पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो

---

१. २. '–' चिह्नान्तर्गतांशो विशेषः ख. पुस्तके।
३. '–' ख. चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्ति।
४. इतः प्राक् ख. पुस्तके विशेषो दृश्यते—यदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव काप्ययन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम कृष्णं त एस रुशतः पूरो मा।

भवन्तीति श्रुतेरपशब्दितैर्मानुषैः शरीरैराच्छादिता इत्यर्थः, आववृत्रन् कृष्णं समन्तात् गोपयादवादिरूपेण आवृत्य स्थिता इत्यर्थः[१], ऋतस्य कर्मफलस्य सदनात् भोगस्थानात् स्वर्गादित्येति शेषः, तदेव सदनं स्तौति, आदित् अस्मादेव ऋतस्य सदनात्, घृतेन जलेन पृथिवी व्युद्यते वृष्टिद्वारा क्लिन्ना क्रियते। स्वर्गवासापेक्षया कृष्णसान्निध्यं श्रेय इति मत्वा सर्वेऽपि देवाः भूमौ वासमरोचयन्तेत्यर्थः ॥५॥

नन्विन्द्रं मित्रं सौर्याविति द्वयोरप्यनयोर्मन्त्रयोः सूर्यदेवतत्त्वं स्मर्यते, तत्कथं सूर्यान्तिर्वर्त्ति, ततोऽन्यत् सदभिधं कृष्णवस्त्वित्याशङ्क्य मन्त्रान्तरमाह[२]—

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥६॥

आकृष्णेनेति। कृष्णेन कृष्णशब्दितेन, रजसा रञ्जकेन एष ह्येवानन्दं यातीति श्रुतिप्रसिद्धेन सत्ताहेतुना आवर्त्तमानः सविता देवो यातीति वदन्त्या श्रुत्या को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति। श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं सवित्रादीनां तु चालकं कृष्णरजस्ततः पृथगी (गि) ति दर्शितम्। न च कृष्णेनेति रथेनेत्यस्य विशेषणं सम्भवति व्यवहितत्वात कृष्णं भा इत्युदाहृतं श्रुत्यन्तरविरोधाच्च सौर्यत्वत्यृचोर्दिवा कीर्त्यत्वादौपचारिकं लिङ्गादर्शनात्। शेषं स्पष्टार्थम्। अत्रैव मन्त्रान्तरमुदाहरति—

यजुः—यत्कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन्।
ततस्त्वामेकविंशतिधा सम्भरामि सुसम्भृता ॥७॥

यत्कृष्ण इति हे भगवान्। यत् यस्मात् त्वं कृष्णः सत्यानन्दरूपोऽपि, रूपं[३] रूपवज्जातीयं वियदादि कृत्वा निर्माय, वनस्पतीन् स्थावरं जङ्गमञ्च प्राविशः प्रविष्टवानसि। एतेन तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यस्याः श्रुतेरर्थो दर्शितः। यतः प्राविशस्ततो हेतोर्वनस्पतिभ्यस्त्वां[४] तदन्तःप्रविष्टं सम्भरामि चिन्मया एव समिध आचिनोमीत्यर्थः। सुसम्भृता सम्यग्भरणवता भावेन एकविंशतिधेत्येकविंशोऽयं पुरुष इति संख्यासामान्यादिध्मस्याप्यात्मरूपत्वं दर्शितम्। एतेन 'ओषधे त्रायस्वैनं शृणोत ग्रावाण' इत्यचेतने प्रयोजनसम्बन्धोऽपि तत्तदन्तःप्रविष्टचेतनाभिप्रायेण, नत्वचेतनांशाभिप्रायेणेत्यपि सर्वत्र ज्ञेयम् ॥७॥

---

१ ख. 'वृतु वर्त्तने सस्य रन्' इति विशेषः। २ ख. कृष्णवस्त्वित्याशङ्क्याह। ३. ख. मायया रूपं। ४. ख. ०वनस्पतिभ्यः सकाशात्त्वां।

कुतो हेतोर्भगवान् भूमाववतारेत्येवमाह—

उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः ।
अथाब्रवोद्वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व ॥८॥

उत मातेति । माता अदितिः पृथिवीति यावत्, द्यौः पिता पृथिवी मातेति मन्त्रवर्णात् महिषं महान्तं इन्द्रं अन्ववेनत्, तस्य हितं स्ववचनं प्रकाशितवती । तदेवाह—अमी इति । हे पुत्र ! अमी देवास्त्वा त्वां जहति त्यजन्ति, गोब्राह्मणयज्ञादीनामसुरैर्भुवि भङ्गे कृते भागमलभमाना देवास्त्वामरक्षितारं त्यक्ष्यन्तीति भावः । अथ इन्द्रो वृत्रं वारयति धर्ममिति, वृत्रं असुरकुलं हनिष्यन् घातयिष्यन् स्वयमशक्तः सन्निदमाह—हे सखे ! अन्तर्यामितया परमाप्ततम विष्णो व्यापनशील वितरं विशेषेण सुतरां क्रमस्व अत्युत्कटं पराक्रमं कुरु, असुरान् जहीत्यर्थः ॥८॥

स एवमिन्द्रेणाभ्यर्थितो विष्णुर्देवक्या उदरे योगमायाद्वारा पूर्वं सप्तसंख्यानर्द्धगर्भान् न्यवेशयदित्याह—

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥९॥

सप्तेति । कालनेमिपुत्राः षड्गर्भाख्याः ब्रह्माणमाराध्यामरत्वं प्राप्ता अपि पितामहेन हिरण्यकशिपुना मां पितामहं त्यक्त्वा[1] देवपितामहं श्रयन्तो यूयं स्वपितुर्हस्तेनैव मरणं प्राप्स्यथेति शप्ताः ते पाताले शयानाः ब्रह्मवरदानात् स्थूलेन शरीरेण विनश्य अपि दैत्यशापाल्लिङ्गशरीरेणैव वासिष्ठोदाहृतलवणवद्योगमायाबलेन जन्मान्तरं लेभिरे, तत्र च कंसीभूतेन कालनेमिना ते निहता इति हरिवंशे आख्यायते[2] । तेन षण्णामर्द्धगर्भत्वं रामोऽपि देवक्या उदरात् सामिगर्भ एव योगमायया निष्काश्य रोहिण्या उदरे निवेशित इत्ययमप्यर्द्धभाग[3] एव । एवं सप्त अर्द्धगर्भाः भुवनस्य रेतो भुवनबीजस्य[4] विष्णोः प्रदिश्यत इति प्रदिक्तया प्रदिशा आज्ञाकारिण्या योगमायया हेतुभूतया विधर्मणि विपरीते धर्मे अंशेनामरत्वमंशेन जन्मादिभावत्रमित्येवं रूपे भूचरेष्वत्यन्तदुष्करे तिष्ठन्ति । एतदेवाह—त इति । ते सप्ताप्यर्द्धगर्भाः विपश्चितो ज्ञानवन्तः पूर्वेषां देहानां निधानैरवस्थापनैः परिभवन्ति साकल्येन वर्त्तन्ते; पुनश्च ते मनसा परिभुवः

१ परित्यज्य त्यक्त्वा । २ ख. उपाख्यायते । ३ ख. ०मप्यर्द्धगर्भ । ४ ख. भुवनबीजभूतस्य ।

मनोमात्रेण साधनेन विश्वतः देहेन्द्रियादिसाकल्येन सम्पन्नाः सन्तः परिभवन्ति पुनरुत्पद्यन्त इत्यर्थः। अत्र रामविषये मनसेत्युभयत्रान्वेति। तस्य मातृद्वयेऽपि मनोमात्रेण प्रवेशात् स्वकर्मजदेहाभावादिति ध्येयम् ॥९॥

कृष्णं नियानमिति भगवतो भूप्रवेश उक्तस्तं विशदयति—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥१०॥३ॐ

य ईमिति। योऽयं धीधातुः ईं एनं प्रपञ्चं चकार कल्पितवान्; सः अस्य एनं प्रपञ्चं न वेद, नहि जडं मनः स्वकार्यं वेदितुमलम् मृदिव घटम्, यश्चाहङ्कारः ईं एनं ददर्श; यो द्रष्टृत्वाभिमानी तस्मादपि नु निश्चितं हिरुक् पृथक्, इत् एव य एवंविधोऽहङ्कारस्यापि साक्षी केवलदृङ्मात्रस्वरूपः। सः मातुर्योना[1] योनेः गर्भाशयस्य अन्तर्मध्ये परिवावो[2]ऽर्थाज्जरायुणा वेष्टितो भूत्वा निर्ऋतिं भूमिं आविवेश। कीदृशः बहुप्रजाः अष्टोत्तरशताधिकषोडशसहस्रस्त्रीषु प्रत्येकं दश-पुत्रानेकां च कन्यां जनयतः स्पष्टं पुराणेषु बहुप्रजस्त्वम्, एतच्च कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्यस्याः स्मृतेर्मूलम् ॥१०॥ॐ०।

कथं कुत्र मातुर्योनावाविवेशेत्यत आह—

कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः ॥११॥

कृष्णं त एमेति। हे भूमन्! ते तव रुद्ररूपेण पुरस्तिस्रो रुशतो नाशयतः, यद्वा पुरः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहान् ग्रसतस्तुर्यस्वरूपस्य यत् कृष्णं भाः सत्यानन्द-चिन्मात्रं रूपं सत् एम प्राप्नुयाम, यस्य एकमेव एकमेव अर्चिः ज्वालावदंशमात्रं समष्टिजीवरूपं वपुषां देहानां अनेकेषु[3] चरिष्णु भोक्तृरूपेण वर्तते। यत् कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतं गमनं यथेसष्टञ्चारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्धगतिर्निविडग्रस्ता देवकीत्यर्थः। कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्तो वाचेति छान्दोग्ये देवक्या एव कृष्णमातृत्वदर्शनात्। सा गर्भं स्वगर्भे दधते धारयति। 'दध धारणे' इत्यस्य रूपम्। ह प्रसिद्धं स त्वं जातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्य-

---

१ ख. पुस्तके विशेषः—'सुपां सुलुक्' इति सुपो डा, योनेः। २ ख. परिवीतो। ३ ख. अनेकेषु देहेषु। ४ ख. निश्चितं चित् खलु।

इदु सद्य एवं निश्चितं दूतः दुनोतीति दूतः मातुः खेदकरो वियोगदुःखप्रदो भवसीत्यर्थः। एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतवान् इति सूचितम्। तत्र वैकुण्ठस्य इन्द्रस्य वाक्यं अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरिति प्राश्रावयं शवसातुर्वशं यदुमिति च प्रमाणम्। तत्र हरिवंशे पूर्वं सोमवंश्यात् ययातेः सकाशाज्जातस्य यदोः क्रोष्ट्रादीनारभ्य शूरवसुदेवान्ते वंश उक्तः। विकद्रुवाक्ये पुनः सूर्यवंश्यात् हर्यश्वाज्जातस्य यदोरेव माधवादिक्रमेण वसु वसु-देवान्तो वंश उक्तः। तत्र यथा ब्रह्मपुत्रस्य वसिष्ठस्य मित्रावरुणाभ्यां पुनर्जातस्यापि नामरूपयोर्भेदः पूर्वान्वयाद्विच्छेदवानासीत्[1]। एवं ययातितो हर्यश्वाच्च जातस्य यदोरपि ज्ञेयम्, यथा च ब्रह्मपुत्रस्यापि सनत्कुमारस्य कार्त्तिकेयत्वे स्कन्द इति नाममात्रं भिन्नं न व्यक्तिः। तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कंद इत्याचक्षत इति, छान्दोग्ये दर्शनात्। तथा शूरस्य ययातान्वये हर्यश्वान्वये च जातस्य वसुरिति नाममात्रेण भेदः तेन वसुदेवस्य शूरपुत्रत्वं वसुपुत्रत्वं च संगच्छते अत एवमुदाहृतश्रुत्योरर्थः; अहं वसुनः वसोः सकाशात् भुवमभवं नुमागमोऽडभावः शवभावश्चार्षः पूर्व्यः आद्यः पतिः स्वामी अविशेषात् कृत्स्नस्य जगत इत्यर्थः. तथा शवसा बलेन तुर्वशं यदुञ्च प्राश्रावयं प्रकर्षेण श्रावितवानस्मि। यदुवंशीया वयमतिबलवत्तरा इति अत्र तुर्वसुग्रहणं ययातीययदुवंशजत्वज्ञापनार्थं तेन यदुवंशे उत्पन्नस्य देवकीभर्तुर्गृहे भगवानुत्पन्न इति सिद्धम् ॥११॥

अयं जातमात्रो मात्रा वियुक्त इत्युक्तं तत्र हेतुमाह—

विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन्।
उरुक्रमः ककुहो यस्य पूर्वीर्न मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः ॥१२॥

विष्णुमिति। स्तोमासः[2] स्तुत्याः महान्तो विष्णुमिति विष्णुं पुरुदस्मं बह्वायतनं अर्का अर्चकाः यामनि भक्तजनेषु प्रेमपीयूषपरिवेषणेऽग्मन्[3] गताः प्राप्ताः। यमोऽपरिवेषणे एवमित्वादिह परिवेषणे यमेर्ह्रस्वो न। के इव भगस्य ऐश्वर्यस्य कारिण इव, अयमर्थः एकः पुत्रमिव प्रेम्णा वस्त्रालङ्करणादिभिः विष्णुं महीकरोति, अपरो दण्डभयाद्राजानमिव तत्राराधनस्यैकरूपत्वेऽपि भावभेदात्। उरुक्रमो महान् त्रैलोक्याक्रमणसमर्थः पादविक्षेपो यस्य स, ककुहः कुह कोऽस्ति। यतो यस्य पूर्वी जनित्रीः प्रथमाः मातरः युवतयः देवक्याद्याः वहुत्वं कल्पभेदा-

१ ख. ०विच्छेदश्च नासीत्। २ ख. स्तोमासः स्तोमाः 'आज्जसेरसुक्'। ३ ख. ग्मन् मन्त्रे 'घसेति' लेर्लुक्।

भिप्रायेण पूजायां वा[१] न मर्धन्ति भगवदत्तेन महिम्ना उपेता अपि न तत्कर्तृकेण प्रेम्णा क्लिद्यन्ते। तेन प्रेमभक्तेषु गोकुलजनेष्वेव रक्तोऽभूदिति ॥१२॥

स स्वश्चिज्जात इति। य उक्तस्तं जातमात्रं देवाः परिवव्रुरित्याह वसिष्ठः

स स्वश्चिद्धि तन्वः शुम्भमाना आहंसा सो नीलपृष्ठा अपसन्।
विश्वं शर्द्धो अभितो मा निषेद नरो नरण्वा सवने मदन्तः ॥१३॥

स स्व इति। स्वः स्वर्गः।

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥'

इति श्रुतिनिरुक्तं सुखं तेन समानं सस्वः, श्रीकृष्णाध्यासितं भूमण्डलं चिद्धीत्यनर्थकौ निपातौ सूचनप्रसिद्ध्यर्थौ वा। हंसाः सो हंसा देवाः आ समन्तात् अपसन् गताः प्राप्ताः तन्वस्तनूः शुम्भमानाः शोभयन्तः दिव्यरूपधारिण इत्यर्थः। नीलपृष्ठाः डलयोरैक्यात् नीलं नीडं स्वर्गः पृष्ठे येषां ते नीलपृष्ठाः अंशमात्रेण स्वर्गे स्थित्वा सर्वात्मना भूमिमागता इत्यर्थः। विश्वं कृत्स्नं शर्द्धः शृधु क्लेदने वृष्टिकरं द्युस्थानमन्तरिक्षस्थानं च देवतायूथं अभितः समन्तात् मा मां मदभिन्नं कृष्णं निषेद निषसाद। अत्र वसिष्ठः शास्त्रदृष्ट्या प्रत्यगभेदात् ईश्वरमस्मच्छब्देन निदिशति[२]। मामुपास्वेति अहं मनुरभवमितीन्द्रवामदेवादिवत्। तत्र दृष्टान्तः नरो नेत्यादि न शब्द उपमार्थे, यथा नरो मनुष्याः सवने पुत्रजन्माद्युत्सवे रण्वाः रमणशीलाः मदन्तो हृष्यन्तः संस्क्रियमाणस्य शिशोरभितो निषीदन्त्येवं देवाः कृष्णमभितो निषेदुरित्यर्थः ॥१३॥

एवं निषण्णाः देवाः वसुदेवं सम्बोधयंति द्वाभ्याम्—

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याः चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारन्नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥१४॥

इमे दिव इति। भो मानुष! इमे परिदृश्यमानाः दिवः सम्बन्धिनो देवाः अनिमिषाः निमेषवर्जितत्वेन अत्यन्तं सावधानाः पृथिव्याः सम्बन्धिनं अचेतसं अज्ञं जनं स्वयं चिकित्वांसस्तस्य हितं जानन्तः तं नयन्ति, एवं कुरुष्वेति शिक्षयन्ति। तदेवाहुः—प्रव्राजे इति। प्रकर्षेण व्रजते देशसीमामुल्लंघ्य गच्छते पुरुषाय नद्यः नद्याः यमुनायाः सम्बन्धि जलं आङभावः आर्षः, गाधं प्रावृट्-

---

१ ख. वा अत्र 'सुपां सुपो भवन्ती' ति जसः शस। २ ख. निर्दिशति।

कालेपि जानुदघ्नमस्ति, अतः नोऽस्माकं सम्बन्धिनोऽस्य पुरोवर्तिनः शिशोः, विष्पितस्य वेवेष्टि व्याप्नोतीति। विट्, पातीति वा पिबतीति वा पितः विट्-चासौ पितश्च विष्पितः जगतः सृष्टिस्थितिप्रलयकृत् तस्य, विष्शब्दस्य आर्षं भत्वं कर्मणि षष्ठी। एनं विष्पितं पारं यमुनायाः पारं तीरं प्रापयितुं पर्षन् भव स्नेहवान् आदरयुक्तो भव। यमुना च तुभ्यं मार्गं दास्यतीति भावः ॥१४॥

ननु कथमितरैरज्ञातेन मयाऽयं पारे नेतुं शक्यः, क्व चायं नीत्वा स्थापनीय इत्याकांक्षायामाहुः—

यद्गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे।
तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं तुरासः ॥१५॥

यदिति। यत् स्थानं गोपावत् गोपालयुक्तं यत्र च अदितिर्मित्रो वरुणश्च सुदासे शोभनाय दात्रे नन्दाय भद्रं उत्सवादिरूपं शर्म सुखं अनामयं च यच्छन्ति, तस्मिन् स्थाने स्तोकं शिशुं तनयं पुंजातीयं आदधानाः भवतेति शेषः। तत्र स्थापय इत्यर्थः। भो तुरासः तुराः इतस्ततः प्लवमानमनोवेगग्रस्ता देवहेलनं देवानामवज्ञानं मा कर्म मा कुरुत। आर्षः पुरुषः व्यत्ययः स्वाभेदविवक्षया वा उत्तमपुरुषप्रयोगः ॥१५॥

एवं देवैराज्ञप्तो वसुदेवः कृष्णमानीय नन्दागारे यशोदानिकटे स्थापितवान्, तेनैव सहागताः देवास्तत्र भगवतः स्वरूपं वर्णयन्ति—

इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात्।
नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय ॥१६॥

इदमु त्यदिति। त्रिभिर्मन्त्रैः, इदं शिशुरूपेण दृश्यमानं उ निश्चितं त्यत् वेदान्तप्रसिद्धं ज्योतिश्चिन्मात्रं पुरुतमं बहुतमं भूमसंज्ञं तमसः तमःकार्यात् संसारात् तत्कारणादव्याकृताच्च पुरस्तात् पूर्वं उदस्थात् उत्थितं नित्यमाविर्भूतं वयुनं प्रशस्तं कर्मदुष्टनिग्रहशिष्टपालनरूपं तद्वत् दैर्घ्यं छान्दसं[1] वयुनावत् भवितुं जातमित्यर्थः। नूनं निश्चितं उषसः उषोऽभिमानिन्यो देवताः गातुं पृथिवीं कृणवन् अलंचक्रुरद्येति शेषः। जनाय दुष्टनिग्रहादिना जनहितायेत्यर्थः। कीदृश्य उषसः? दिवो दुहितरः अव्याकृताकाशाज्जाता इत्यर्थः। अत एव विभातीर्विशेषेण भान्त्यः ॥१६॥

१ ख. सांहितिकं।

अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु ।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छंतीरव्रन् शुचयः पावकाः ॥१७॥

अस्थुरिति। पुरस्तात् इतः पूर्वं चित्रा उषसः अस्थुरुः अत्याश्चर्यकरा उषःकालस्थिता एव, तथापि ताः मिता इव परिच्छिन्ना एवाल्पानन्दकरत्वात् अद्यतनी तूषा अखण्डानन्दप्रकाशिकेत्यर्थः। मितत्वे दृष्टान्तः—अध्वरेषु स्वरव इव यूपैकदेशप्रादेशमात्रकाष्ठतुल्या इत्यर्थः। एतास्तु व्रजस्य सम्बन्धिनस्तमसो मूलाज्ञानस्य पोषकाणि, द्वारा द्वाराणि देहाद्यभिमानान् उ निश्चितं व्युच्छन्तीः वैपरीत्येन प्रकाशयन्तोः प्रभासयन्तीः। अव्रन् वृतवत्यः, यतः शुचयः शुद्धाः पावकाः शुद्धिकर्त्र्यः। अहो व्रजस्य भाग्यं यत्राखण्डं ब्रह्म प्राक्क्वचिदप्यनाविर्भूतमाविरभूदिति भावः ॥१७॥

न केवलं व्रजस्य भाग्यं अपि तु भोजोपलक्षितानां वृष्ण्यन्धकयादवानामपीत्याह—

उच्छन्तीरध चितयंत भोजान् राधो देयायोषसो मघोनीः ।
अचित्रे अन्तः पणय. ससं्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥१८॥

उच्छन्तीरिति। अद्य भोजान् उच्छंतीः कंसेनाभिभूतान् प्रकाशयन्तीः उषसः चितयन्त जानीत। राधोदेयाय धनप्रदाय मघोनीः धनवतीः। अत्र वज्रस्य तमसो द्वारा व्युच्छन्तीरिति भोजान् राधोदेयाय। उच्छन्तीरिति च व्रजस्याज्ञानापगमेन परमपुरुषार्थभागित्वं चोक्तं[1], तत्र कारणं प्रागेवोक्तं, विष्णुं स्तोमास इत्यत्र। तथा अचिन्त्रे अचयनीये महामोहमये तमसि विमध्ये अन्तःस्थिता इति शेषः। पणयोऽसुराः ससंतु स्वपन्तु यथा अबुध्यमानाः स्वहितमिति शेषः। तदेव मन्त्रत्रयेण क्रमात् कृष्णस्याविर्भावो जनस्योपकाराय व्रजस्य कैवल्याय भोजानां राज्यादिलाभाय चेत्युक्तम् ॥१८॥

अथ रामकृष्णयोः सूत्रान्तर्यामिरूपयोः साहचर्यमाह—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यंचिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥१९॥

अपाङिति। स एवं अपाङ् प्रत्यङ् सन् प्राङ् परागिव एति, अन्तरात्माऽपि

१ ख. भोजानां श्रीकरत्वेन अवरपुरुषार्थभागित्वं चोक्तं।

सन् वहिर्भावेन पुरुषान्तररूपेण चरति। कुतः स्वधया लोकानां पुण्येन कर्मणा गृभीतः वशीकृतः सन् अमर्त्यः कृष्णोऽन्तर्यामी मर्त्येन कृत्स्नकार्याभिमानिना सूत्रात्मना रामेण सयोनिः समानायां योनौ उदरे स्थाने वा भवतीति सयोनिः सोदर्यः सहचरश्च ता तौ उभावपि रामकृष्णौ शश्वन्ता शश्वद्भवौ, यो वै तत्काप्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति श्रुतिप्रसिद्धौ सूत्रान्तर्यामिणौ विषूचीना विश्वंचौ व्यापकौ वियंता विविधप्रकारेण यन्तौ चरन्तौ। तयोरन्यं एकं सर्वे जनाः निचिक्युः कार्यरूपत्वाज्जानन्ति ज्ञातवन्तः प्राञ्च इति वा। सूत्रात्मानोऽपि शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् अन्यं कृष्णं न निचिक्युः, इदं तथा न जानीयुः, प्रत्यगात्मत्त्वेनाविषयात्वात् गोपजना इत्यर्थात् ॥१९॥

हरिवंशक्रमेण प्रथमं शकटासुरभङ्गमाह—

पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं देवासो अमृतासो अस्थुः।
कृष्णादुदस्थादर्या विहायाश्चिकित्संती मानुषाय क्षयाय ॥२०॥

पृथुरिति। दक्षिणायाः दक्षिणदिक्सम्बन्धी मृत्युदूत इत्यर्थः। रथः शकटं अयोजि नियुक्तं असुरैरिति शेषः। एनं अमृतासो अमृताः देवासो देवाः आ समन्तात् अस्थुः परिवार्य स्थितवन्तः, न तु तं भङ्क्तुं अशक्नुवन्नित्यर्थः। स रथः कृष्णात् कृष्णं प्राप्य विहाया आकाशः तं प्रति उदस्थात् उत्थितः कृष्णेनान्तरिक्षे उत्क्षिप्त इत्यर्थः। तदा मानुषाय मनुष्यरूपस्य कृष्णस्य क्षयाय नाशे विषये चिकित्सन्ती विचिकित्सन्ती संदिहाना अर्या श्रेष्ठा सर्वा प्रजाऽभूदिति शेषः। कथमेतच्छकटं उत्क्षिप्तं कथं चानेन सन्निहितोऽपि शिशुर्न मर्दित इत्याश्चर्यममन्यतेत्यर्थः ॥२०॥

शकुनिरूपायाः पूतनाया वधमाह—

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने।
शं नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु मा नो हिंसीदिह देवाः कपोतः ॥२१॥

हेतिरिति। हेतिरिव हेतिरायुधवन्मृत्युरूपा पक्षिणी अस्मात् अभिभवितुमायातापि न दभाति नाभिभवति; प्रत्युत अग्निधाने अग्निरूपस्य कृष्णस्य धाने पाने तर्पणे निमित्ते आष्ट्र्यां 'अषु गतिदीप्त्यादानेषु अस्मास्मिजंता तृच्', दीपयन्त्या अग्निष्टिकायां पदं स्थानं कुरुते, कृष्णाय स्तनदानव्याजेन वह्नावेव पपातेत्यर्थः।

एवमुक्त्वा शान्तिं पठन्ति। शं न इति, नोऽस्माकं गोभ्यः पुरुषेभ्यश्च शं कल्याणमस्तु। भो देवाः कपोतो मृत्योर्दूतो नोऽस्मान् मा हिंसीदिति ॥२१॥

वात्यारूपिणा तृणावर्तेन कृष्णे विहायसि नीते देवास्तं शपन्ति—

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥२२॥

साकमिति। हे यक्ष्म महारोगवत्पापरूपराक्षसः चाषेण चाषवर्णेन शिशुना किकीत्यव्यक्तभाषणेन दीव्यता क्रीडता किकीदीविना कृष्णेन त्वत्प्रपतनहेतुना साकं सार्द्धं त्वं प्रपत अन्तरिक्षात् च्युतो भव, तथा वातस्य ध्राज्या पांसुरेखया व्योमस्पर्शिन्या वात्यया साकं, सद्य एव नश्य नष्टो भव, तथा निहाकया नितरां हा इति कायति शब्दं करोति अनयेति निहाका तीव्रवेदना तया साकं नश्य, नष्टे च त्वयि भगवानस्मदीयो यथेष्टं विहरतु इत्याशयः[१] ॥२२॥

ततस्त्रिचतुर्वार्षिकं कृष्णं गव्यार्थिनो गोपाः प्रार्थयन्ते—अग्निं तं मन्य इति सूक्तेन, तत्रायं मन्त्रः—

नवा नो अग्न आभर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः।
ते स्याम य आनृचुस्त्वादूतासो दमे दम इषं स्तोतृभ्य आभर॥२३॥

नवा न इति। हे अग्ने जाठररूपेणान्तःस्थ भगवन् नोऽस्मभ्यं स्तोतृभ्यः नवा अभिनवाः क्षीरमण्डदधिवस्तुनवनीताद्या यज्ञेऽप्यप्राप्ताः इषोन्नानि आभर आहर। सुक्षितीः कल्याणभूमीः याभिर्भक्षिताभिः आयुः सत्वबलारोग्यादिकं भवति तादृशीरित्यर्थः। कथमेता लभ्यन्त इत्यत आहुः—त इति। ये देवाः त्वां पुरा आनृचुः स्तुतवन्तः त एव वयं स्म दमे दमे गृहे गृहे त्वादूतासः त्वद्दूताः स्याम यस्य यस्य गृहे यत्र यत्र यद्यदस्ति तत्तत्तुभ्यं निवेदयिष्यामः इत्यर्थः। इषं स्तोतृभ्य आभरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥२३॥

एवं तेषामिष्टमनुतिष्ठंस्तानपि यदा वञ्चयते तदा त एनं उपालभन्ते—

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥२४॥

---

१ ख. इति भावः, एवमुक्तमात्रे तत्तथैव जात इति ज्ञेयम्।

उभ इति। हे सुश्चन्द्र सुतरामाह्लादकेति साकूतसम्बोधनम्। त्वं उभे सर्पिषः पूर्णे दर्वी दर्व्यौ स्वस्यैवासनि आस्ये श्रीणीषे मिश्रयसि न त्वेकामपि बहुभ्योऽस्मभ्यं संप्रयच्छसि, एवं मा कुर्वित्यर्थः। उतो अपि च नः अस्मात् उत्पुपूर्याः उत्कर्षेण पूरितवानसि, हविष्यैः पूर्वं उक्थेषु यज्ञेषु तथा इदानीमपि पूरयस्वेत्यर्थः। शवसः बलस्य पते स्वामिन्निषं स्तोतृभ्य आभर। यद्वा उभे अपि दर्व्यौ त्वमेव आसनि श्रीणीषेऽपि च अस्मांस्तर्पयसि इत्याश्चर्यमित्यर्थः। बिम्बरूपे त्वयि पुष्टे त्वत्प्रतिबिम्बानामस्माकं पुष्टिरर्थसिद्धेति भावः ॥२४॥

अवस्म यस्य वेषणे स्वेदं पथिषु जुह्वति ।
अभीमह स्वजेन्यं भूमा पृष्ठेव रुरुहुः ॥२५॥

अवस्मेति। यस्य नवनीतादेरववेषणे परिवेषणे[1] व्यवस्थापनार्थं स्वेदं[2] घर्मोदकं पथिषु मार्गेषु गोपाः क्षीरादिभाजनानि वहन्तो जुह्वति श्रमजेन घर्मोदकेन भुवं क्लेदयन्ति स्म। एवं श्रमागतमपि गव्यम् ईम् एते वयं अभि अभितः साकल्येन अह निश्चितं स्वजेन्यं स्वस्य जय्यं स्वाधीनं कर्त्तुं भूमा प्रभवाम इत्यालोच्यते। पृष्ठा पृष्ठानि रुरुहुरिवेत्येवार्थः; एकस्य पृष्ठे परस्तस्यापि पृष्ठे पर इत्येवं क्रमेण आरुह्य अत्युच्चस्थानस्थमपि क्षीरादिकं स्वायत्तीकुर्वन्त्येवेत्यर्थः ॥२५॥

एवमनेकैरुपायैर्गव्यमश्नति भगवति मन्त्रस्तदाशयं विवृणोति—

यं मर्त्यः पुरुस्पृहं विदद्विश्वस्य धायसे ।
प्रस्वादनं पितूनामस्ततातिं चिदायवे ॥२६॥

यं मर्त्य इति। यं श्रीकृष्णं विश्वात्मानं विश्वस्य धायसे तृप्तये पुरुस्पृहं बहु कामयन्तं, अत एव पितूनां नवनीतादीनामदनीयानां प्रस्वादनं आस्वादनकर्त्तारं उपलभ्य मर्त्यः आयवे जीवनाय अस्ततातिं गृहस्य पालनं कर्त्तव्यत्वेन अविदत् ज्ञातवान्। अयमर्थः- यथेवं बालाः सर्वं गव्यं मुष्णन्ति तर्हि जीवनलोपो भविष्यतीति। गृहसंरक्षणे जनः प्रवर्तते, भगवांस्तु अल्पेपि गव्ये ह्युपास्वादिते त्रैलोक्यसन्तर्पणजं पुण्यमेते प्राप्स्यन्तीति चौर्येणापि तदास्वादयतीति ॥२६॥

तमेवं कुर्वाणं निगृह्य गोपीजनो यशोदामानीय वदति—

---

१ ख. अवस्थापने। २. ख. पुस्तके एकादश पत्राभावत्वादस्मान्मन्त्रव्याख्यानात् अष्टाविंशतिमन्त्रपर्यन्तांशो नैवास्ति।

अयं रोचयदरुचो रुचानो यं वासयद्व्तेन पूर्वीः ।
अयमोयत ऋतयुग्भिरश्वैः स्वर्विदा नाभिना चर्षणिप्राः ॥२७॥

अयं रोचयदिति । अयं तव पुत्रः अरुचः अप्रकाशमानात् गोप्यस्थानेऽपि स्थापितान् क्षीरादीन् रसान् रोचयत् भोक्तुं रोचयते । पुनश्च रुचानः स्तेनोप्यस्तेनवद्दीप्यमानो धृष्टत्वं करोतीत्यर्थः । अयं उपालभ्यमानः पूर्वीः स्वापेक्षया अतिप्रौढा अपि नारीः विवासयत् विवसनाः करोति एवं व्याकुलीकृत्य पलायत इत्यर्थः । ऋतेन शपथेनैतद्वदामो न तु द्वेषेण । तर्हि वह्वीभिर्मिलित्वा कुतोऽयं न ध्रियते अत आहुः अयं ऋतयुग्भिः कर्मवद्भिर्वेगवद्भिरिति यावत्, अश्वैरोयते लभ्यते वेगवतोऽश्वादप्यधिकं धावतीत्यर्थः । कीदृशोऽयं स्वर्विदा स्वः भक्षणसुखं विन्दतीति स्वर्वित् तेन सुखमात्रार्थिना नाभिना अनाभिस्थजाठरेण निमित्तेन चर्षणिप्राः चर्षणीः प्रजाः प्लायती लंघयतीति चर्षणिप्लाः, रलयोः सावर्ण्यात्प्राः मिष्टार्थी अयं लोकमर्यादां लङ्घयतीत्यर्थः । वस्तुतस्त्वयमासामभिप्रायः । अयं चिदात्मा स्वयं रुचानः प्रकाशमानः अरुचः अरोचमानान् जडान् घटादीन् रोचयत् प्रकाशयति तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुत्यन्तरात्- अयमेव विशेषेण पूर्वीः प्रजाः अव्यक्ताद्याः स्वयमनृताः सत्यः स्वेन ऋतेन सत्वेन वासयति । अयमेव जडानृतस्य प्रपञ्चस्य स्फूर्तिसत्ताप्रद इत्यर्थः । अयं ऋतयुग्भिः सत्येन वस्तुना सम्बद्धैरिन्द्रियाश्वैः अन्तर्मुखैरिन्द्रियैर्मनोमात्रतां गतैः ईयते गम्यते । स्वर्विदा नाभिना सगुणब्रह्मोपलब्धिस्थानेन नाभिना आलम्बनीकृतेन ईयते, 'नाभ्यामुपरि तिष्ठति विश्वस्यायतनं महदि'ति श्रुतेः चर्षणिप्राः प्रजापूरको व्यापक इत्यर्थः ॥२७॥

एवं गोपीभिरावेदिते उलूखले यशोदया दाम्ना बद्ध्यमानमालक्ष्य ऋषिराह—

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥२८॥

यत्र मन्थामिति । यत्र उलूखले महत्तरे मन्थां मन्थानं सगर्गरं विबध्नते दधिमन्थनार्थं तादृशे उलूखले बद्धाः सुताः पुत्राः उलूखलसुताः, तेषां मध्यमपदलोपी समासः, बहुत्वं पूजायाम् । उलूखले बद्धस्य सुतस्य अमितवा इव नियमनायेव रश्मीन् दामरज्जूः 'विशेषेण बध्नते मातरः परन्तु रश्मीनेव बध्नते न तु रश्मिभिः सुतमिति [illegible] । सुतो बद्ध इति प्रतीतिस्तु तासां भ्रान्तिरित्यर्थः । हे

इन्द्र ईदृशान् अज्ञानमातृजनान् उ निश्चितं अत्र इत् पालयैव जल्गुल: जडानि गाव इंद्रियाणि येषां ते जडगव: अतिमूढ़ा: गोपजना: तान् लाति स्वीयत्वेन आदत्ते इति जल्गुल:। अकारलोपो डकारे लकारश्च छांदस:। परिगृहीतानामपि पालन-मावश्यकमित्यर्थ: ॥२८॥

अत्रान्तर मङ्गीकृत्य त[द्]बन्धनस्य वैयर्थ्यं माभूदिति यमलार्जुनावन्तरेण सहोलूखलो गत्वा उलूखलञ्च तिर्यक्कृत्वा वृक्षावुन्मूलितवान् तौ चोन्मूलितौ पुनर्देवताभावं प्राप्य प्रतिष्ठमानौ नलकूबरमणिग्रीवौ व्रजजनानाह—

ता नो अद्य वनस्पतो ऋष्वा ऋष्वेभि: सोतृभि:।
इन्द्राय मधुमत्सुतम् ॥२९॥

ता नो अद्येति। भो वनस्पती ता तौ युवानौ अस्माकं अद्य ऋष्वौ रेषणौ उन्मूलितत्वेन क्लेशकरौ ऋष्वेभि: क्लेशदै: सौतृभि: प्रसवकारणै: कर्मभिर्हेतुभिर्जातौ युवां कालेनोन्मूलितौ दृष्ट्वा अस्माकं महद्दु:खं जातमित्यर्थ:। तथापि इन्द्राय व्रजपतये मधुमत् मधुरं रसं सुतं प्रयच्छतम्। अस्मासु दयां कुरुतमित्यर्थ: ॥२९॥

तत उलूखलान्मात्रा मोचित: सादरमवेक्ष्यमाणस्तस्यै स्ववैश्वरूपं प्रकाशितवान्। 'अवेदिन्द्र जल्गुल:' इति मुनेर्वाक्यं स्मरन्, तच्च दृष्ट्वा माता प्राह—

क उ नु ते महिमन: समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापु:।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्व: स्वाया: ॥३०॥

क उ नु त इति। हे परमेश्वर! ते तव महिमन: माहात्म्यस्य समस्य कृत्स्नस्य अन्तं के उ नु के निश्चितं तर्कयाम:। ये अस्मत् अस्माकं मानवानां पूर्वे ऋषयोऽपि आपु:। ते के, न केऽपीत्यर्थ:। तत्र हेतुमाह—यदिति। यत् यत: मातरं भूमिं च पितरं नन्दं दिवं च साकं सहैव युगपत् कृत्स्नं जगदित्यर्थ:। स्वायास्तन्वा: सकाशात् अजनयथा: प्रादुर्भावितवानसि, अतस्तव माहात्म्यं दुरधिगममित्यर्थ: ॥३०॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञ—मर्यादाधुरन्धर—चतुर्द्धर-वंशावतंस-गोविन्दसूरिसूनो: श्रीनीलकण्ठस्य कृतौ स्वोद्धृतमन्त्रभागवतव्याख्यायां मन्त्ररहस्यप्रकाशिकायां गोकुलकाण्ड: प्रथम: ॥१॥

——

२. वृन्दावनकाण्डम्

अथ वृन्दावनं प्रति वृकभयाद् भगवतः प्रस्थानमन्यसंवादमुखेनाह--

सुदेवो अथ प्रयतेदनावृत्परावत परमां गंतवा उ ।
अथाशयोत निर्ऋतेरुपस्थेऽथैनं वृका रभसासो अद्युः ।।१।।

सुदेव इति । सुदेव आद्यवर्णलोपात् वासुदेवः यथोक्तं **बृहद्देवतायाम्**—

'वर्णस्य वर्णयोर्लोपो बहूनां व्यञ्जनस्य वा ।
अत्राणीति कपिर्नाभादनो यामीत्यवासु च ।।'

इति 'अत्राण्यस्मै पड्भिः सम्भरन्ती' त्यत्र वर्णस्य लोपः अमत्राणीत्यपेक्षिते' 'प्रिया तष्टानिमे कपि' रित्यत्र वर्णयोर्लोपः वृषाकपिरित्यपेक्षिते, 'अयं नाभा वदति वल्गुवो गृहे दनोविश इन्द्रमृध्रवाच' इत्यादौ बहूनां वर्णानां लोपः, 'अयं नाभा नेदिष्ठः' इति[1] दानमनसो विश इति तन्वायामित्येकलोपः, या वामीत्यपेक्षिते, अघासु हन्यन्त इत्यत्र[2] व्यञ्जनलोपः[3] अघास्वित्यपेक्षिते । यद् वासुदेवः शोभनेन देवेनाधिष्ठितो व्रजो वा, शोभनश्चासौ देवश्चेति वा कृष्ण अद्य सद्य एव वृकोपद्रवानन्तरं अनावृतं आवृत्तिवर्जितं यथा स्यात्तथा प्रयतेत् प्रकर्षेण गच्छेत् परावतं परमां दूराद्दूरतरं गन्तवै गन्तुं कुतोऽस्य गमनमतआह—अथेति । अद्य पक्षान्तरे यदि न गच्छेदयं तर्हि निर्ऋतेः पृथिव्या उपस्थे अङ्के शयीत वृकैर्हतो म्रियेतेत्यर्थः । अथ अनन्तरं एनं वृकास्त एव हन्तारः रभसासः शीघ्रतराः अद्युर्भक्षयेयुः यस्मात् सुदेवोऽपि वृकेभ्यो मरणात्त्रस्त इव दूराद्दूरतरं गतस्तस्मात् त्वयाऽपि आध्यात्मिकेभ्यः कामादिभ्यो वृकेभ्यो भेतव्यमिति पुरूरवसम्प्रति उर्वशीवाक्यं, तदिदं हरिवंशे उपबृंहितं वृकभयाद् वृन्दावनं प्रति गोकुलाद् गोपाला गता इति ।।१।।

तत्र गत्वा गवां लालनं करोतीति ऋषिराह—

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ।।२।।

---

१ ख. इति अपेक्षिते । २,३ ख. पुस्तके नास्ति ।

सूयवसादिति। एकवचनं जात्यभिप्रायं सुष्ठु शोभनं यवसं तृणमत्तीति सूयवसात् भगवती ऐश्वर्यवती हि प्रसिद्धा अस्मभ्यं भूयाः भव। अथो वयमपि भगवन्तः स्याम। अद्धि भक्षय तृणं पुनरुक्तिराद रं द्योतयति[1], अघ्न्ये अघघ्नि, विश्वदानीं विश्वस्मै दीयते लूयत इति विश्वदानीं 'तां सर्ववृत्तिभूतं, तथा पिब शुद्धमुदकं, आचरन्ती समन्तात् पर्यटनकरी'[2] ॥२॥

कालियदमनमाह—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥३॥

दासपत्नीरिति। दस्यन्ति उपक्षीयन्ते लोका अनेनेति दासो हिंस्रः तस्य पत्नीरिव पत्नीः तत्सहधर्मचारिणीर्हिंस्राः विषदूषिताः आपः अतिष्ठन् आसन्। यतः अहिः कालियाख्यः सर्पः, गोपायतीति गोपा स्वामी यासां ता अहिगोपाः, अत एव निरुद्धाः, इतरा भोज्याः पणिना चोरवृन्देन गाव इव निरुद्धाः; अपां मध्ये बिलं अहिगृहस्य द्वारं यदपिहितं अद्भिरेवाच्छादितं आसीत्, तत् वृत्रं जघन्वान् शत्रुं जिगमिषुः, हन्तिरत्र गत्यर्थः, अपववार अपावृणोत् उद्घाटितवान्। तीरस्थं तरुमारुह्य अत्युच्चात् स्थानात् यमुनायां निपत्य कालियमभ्यभूदित्यर्थः ॥३॥

ततश्च किमभूदित्यत आह—

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो बध्निः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥४॥

अपादिति। अपात् पादहीनः, अहस्तः हस्तहीनः, सर्पत्वादेव ईदृशोऽपि इन्द्रं कृष्णं प्राप्य अपृतन्यत् युयुधे[3] तेन सह युद्धं कृतवान्। अस्य कालियस्य सानौ मूर्धनि वज्रं आजघान, भगवत्पदचिह्नभूतं वज्रं शिरस्याजगाम, तदङ्कितं शिरोऽभूदित्यर्थः। सोऽयं बध्निश्चर्मपट्टिका तत्सदृशः निस्तेजाः कालियो वृष्णो हरेः प्रतिमानं प्रतिचिह्नं वज्ररेखारूपं बुभूषत् भूषामिव आत्मनः कुर्वन् अशयत् शयनं चकार निरुद्यमोऽभूत्। कीदृशः पुरुत्रा व्यस्तः अनेकैः प्रकारैर्निरस्तः ॥४॥

---

१ ख. पुनरुक्तिरादरार्था। २ ख. पुस्तके '—' कोष्ठगतांशस्थाने निम्नोऽयमंश एवास्ति- 'सर्वदा आचरन्ती पर्यटन्ती शुद्धं उदकं पिब'। ३ ख. अयुद्धयत।

नदं न भिन्नममुया शयानं मनोरुहाणा अतियन्त्यापः ।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत्तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥५॥

नदन्नेति । नदं न शोणादिकं नदमिव शयानं दीर्घाकारेण पतितं यतो अमुया अनेन कृष्णेन भिन्नं निर्जितं अनु पश्चात् आपः यमुनाजलानि अतियन्ति अत्युत्कर्षेण यंति गच्छन्ति। कीदृशाः मनोरुहाणाः आरोहन्त्यः हृदयङ्गमा इत्यर्थः । या अपः चित्पूर्वं वृत्रः कालियो महिना माहात्म्येन पर्यतिष्ठत् परिभूयासीत्, तासामेव सन्निधौ त्राणार्थे वा अहिः कालियः पत्सुतः पद्भ्यां सुतः पीडितः सन् शेते इति शीः पत्सुतःशीः, समासेऽपि विभक्त्यलोप आर्षः, एवंविधो बभूव ॥५॥

अथ खराकारं धेनुकं व्रजनाशायोद्यतमभिलक्ष्य लोको राममाह—

समिन्द्र गर्द्दभं मृण नुवन्तं पापयाऽमुया आ तू न ।
इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥६॥

समिन्द्रेति । हे इन्द्र ! ईश्वर त्वं गर्दभं संमृण सम्यक् नाशय । खरतन्वा नुवन्तं पीडयन्तं धातूनामनेकार्थत्वात् कर्णाटकभाषाप्रसिद्धेश्च नुवतिरत्र पीडार्थः । [1]हे इन्द्र तु पुनः नोऽस्मान् गवादिषु आशंसय, यथा लोकेऽस्मानभिलक्ष्य तादृशो गोमानहं भूयासमिति जन आशास्ते तथाऽस्मान् कुर्वित्यर्थः । शुभ्रिषु शुभ्ररूपवत्सु सहस्रेषु अनन्तेषु आशंसय, तुवीमघ तुवीनि पूर्णानि मघानि धनादीनि यस्मिन्निति तुवीमघ दैर्घ्यं सांहितं, एवमुक्तमात्रे रामस्तं जघानेत्यर्थः ॥६॥

अथ गोपरूपिणा प्रलम्बासुरेण ह्रियमाणो राम आह—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥७॥

न विजानामीति । इव शब्दो भिन्नक्रमः । यदिदं अपरिमितशक्तिकं ब्रह्मास्मि तदहं न जानामीव देहावेशात् प्रमाद्यतीति न्यायेन जानन्नपि न जानामीत्यर्थः । त्वदनुग्रहं विना स्वीयमैश्वर्यं आविर्भावयितुं न शक्नोमीति भावः । कुत एवं मनसा सन्नद्धः बन्धनेन बद्धः पारवश्यं प्रापितः, अत एव निण्यः परप्रणेयः सन् चरामि । यदा काले मा मां ऋतस्य वेदस्य प्रथमजाः कारणभूतः परमात्मा

---

१ ख. पुस्तके इतः प्राक् 'पापयाऽमुयेत्युभयत्र सुपो या' इति पाठो विशेषः ।

आगन् आगच्छेत् तदा आत् अस्मात् अस्यानुग्रहं प्राप्य इत् निश्चितं अस्याः वाचः सकाशात् भागं भगानि विद्यन्तेऽस्येति भागः परमात्मानं अश्नुवे व्याप्नुयां, तं गुरुं प्राप्य तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यार्थमैकात्म्यं लभेयमित्यर्थः ॥७॥

ततः कारुणिको भगवानपाङ्प्राङ्क्तेतीति प्राग्व्याख्यातेन मन्त्रेण अयमहमस्मि तव भ्रातेति राममाश्वास्य अनन्तरमन्त्रेण अस्मै वाचस्तत्वं निवेदयति—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

ऋच इति । ऋचः सर्वाः अक्षरे व्यापके परमे व्योमन् अव्याकृते जगत्कारणे पर्यवसन्नाः यस्मिन्व्योम्नि विश्वेदेवा इन्द्राद्या इन्द्रियाणि वा निषेदुः निषण्णाः सन्ति यस्तद्व्योमन् वेद सः ऋचा केवलं अधीतया किं करिष्यति, न किमपीत्यर्थः । य इत् ये च पुरुषधौरेयाः तद्विदुः त इमे नारदाद्याः समासते सम्यक् बाह्यैराभ्यन्तरैर्वा शत्रुभिरनभिभूताः सन्त आसते ॥८॥

एवमुक्तमात्रो रामः प्रलम्बे स्वं सामर्थ्यमाविश्चकारेत्यृषिराह—

विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य ।
असत उत्सो गृणते नियुत्वान् मध्वो अंशुः पवत इन्द्रियाय ॥९॥

विष्टम्भ इति । पृथिव्याः धरुणो धर्त्ता शेषावतारो रामः प्रलम्बस्कन्धस्थः सन् दिवो द्युलोकशिविरस्य विष्टम्भो मध्यमस्तम्भ इव ववर्द्धेत्यर्थः । तत्र हेतुः— विश्वाः सर्वाः क्षितयः ऐश्वर्याणि अणिमादीनि उत अपि अस्य हस्ते सन्ति विधेयानि सन्ति । हे सोमात्मक विष्णो ! एवंरूपो यतस्त्वमसि अतो मध्वमधोः आदिदैत्यस्य अंशुरिवांशुः दीर्घः प्रलम्बनामांशः ते तव पुरुतः इन्द्रियाय स्ववीर्यप्रकटनाय पवते शीघ्रं यतते, यः स नियुत्वान् नितरां यौति युज्यत इति नियुत् प्राणस्तद्वान् बलवानपि भारार्त्ततया अत्यन्तं न उत्सः उत्सन्नः सन् गृणते मा मुञ्चेति प्रार्थयते । एवमप्यस्य स्वरूपं असदेवं भवति । रामभारेण कीलवत् भूमेरन्तः प्रविष्टमित्यर्थः ॥९॥

एवं सर्वोपायै रामकृष्णाभ्यां पाल्यमानानां गवां महाभाग्यमसहमानो ब्रह्मा वत्सान् वत्सपांश्च हृतवान् तदा स्वयमेव भगवान् सर्ववत्सवत्सपाकारो जातस्तं गावो गोप्यश्च ज्ञातवन्त्यः न तु ब्रह्मेत्याह द्वाभ्याम्—

हिं कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छंती मनसाऽभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्ये यं सा वर्द्धतां महते सौभगाय ॥१०॥

हिं कृण्वतीति । अत्र जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । सर्वाऽपि गौर्गोपी च स्वं स्वं पुत्रं दृष्ट्वा प्रेमातिशयात् हिंकृण्वती हिकारं मूर्ध्नि आघ्राणं च कुर्वन्ती वसुपत्नी वसुवंश्यो राजा पतिः पालयिता यस्याः सा वसुपत्नी न चात्राष्टौ वसवो वसुपदार्थः, 'माता रुद्राणां दुहिता वसूना' मित्यत्र वसुदुहितृत्वेन श्रुताया वसुपत्नीत्वायोगात् वसुश्च हर्यश्वादिक्रमेण शूरापरपर्यायो वसुदेवस्य पितेति प्रागेव व्याख्यातम् । ततश्च वसूनां राज्ञां वत्सं वसुवंशोद्भवं कृष्णं स्वस्ववत्सीभूतमिच्छन्ती मनसा अभ्यागात् मनसैव ज्ञातवती । अयमिदानीं विष्णुरेव वत्सरूपेणायातीति । एवमेवास्मिन्यज्ञे मन्यमाना धेनुः दुहां दोग्ध्रीणां मध्ये अघ्न्या अविद्याघातिनी सेयं पयो वर्धतां वर्धयतां, यथा कृष्णे वत्से सति क्षीरमवर्द्धयदेवमित्यर्थः । महते सौभगाय कैवल्याय अश्विभ्यां दोहनिमित्ताभ्यां सम्प्रदानत्वेन दोग्धृत्वेन वा अश्विनोर्धर्मदेवतात्वाद् अध्वर्यु त्वेन संस्तुतत्वाद्वा । अत्र सेयमिति पदाभ्यां अभ्यागादिति पदाभ्यां च पूर्ववृत्तान्तसूत्रकाभ्यां वसूनां वत्सं वसुपत्नीति च शब्दैः श्रीभगवतोपबृंहिता वत्सहरणकथा सूचिता ॥१०॥

गौरमोमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्कृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभिवावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥१०॥

गौरिति । सैवं गौः अनुवत्सं ब्रह्मणां हृतं स्ववत्समनु पश्चाज्जात वत्सं अनुवत्सं श्रीकृष्णं अमोमेत् प्रमितवती । कीदृशं मिषन्तं मिषं व्याजं कुर्वाणं कपटवत्समित्यर्थः । कथममोमेत् अत आह—यतः मातवै 'वत्सं परीक्षितुं उ निश्चितं मूर्द्धानं हिङ्कृणोत् हिंकारेण आघ्रातवती मनसा ज्ञाततत्त्वापि आघ्राणेनापि तं ज्ञातवती ;कथमेतदत आह—सृक्वाणं घर्मं सरतीति सिक्वा तं अभिसरन्तं घर्मं घर्मवन्तं शीघ्रागमनश्रमेण स्वेदवन्तं अभिवावशाना सर्वतः शब्दं कुर्वाणा वत्सस्य च मायुं शब्दं मिमाति परिचिनोति, ततश्च पयोभिरुपस्थैः[2] पयते प्रस्नौति प्रस्यंदते । भगवद्रूपो वत्सस्तु अन्तरात्मत्वेन सन्निहिततरत्वात् न दूरागमनेन स्विद्यते, नाप्यभितो गोभिः सशब्दमन्विष्यते, नाऽपि शब्दविशेषद्वारा अयं मदीयो वत्स इति निश्चीयते, नाऽपि तज्ज्ञानानन्तरं गोः प्रस्नवः प्रवर्त्तते इति । अनात्मा हिं

१ ख० मातवं मातुं । २ ख० पयोभिरुपस्थैः ।

संशयविपर्ययगोचरो दृश्यते न तु आत्मा, अहं नवेति वा अनहं वेति वा तयोरात्मन्य-दर्शनात्। अतः प्रत्यक्परागवत्सयोर्भेदं जानानो गोगोपीगणो धातुरप्येतन्महिमज्ञाद् वरीयानिति भावः ॥११॥

अथोक्ते विषये ब्रह्मा संशयवानभूदित्याह—

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥१२॥

युक्तेति। दक्षिणायाः धुरि कर्मफलानां ऊर्ध्वभागे स्थितेन विधिनेति शेषः माता मिनोत्यनयेति माता दिव्यदृष्टिर्युक्ता वत्सानां परीक्षणे नियुक्ताऽऽसीत्, मया वत्सेषु वत्सपेषु च हृतेषु किमिदानीं व्रजे वृत्तमस्तीत्यालोचितवानित्यर्थः। ततश्च किं दृष्टमत आह—अतिष्ठदिति। वृजनीषु व्रजगतासु जनीषु मातृषु गर्भः वत्सः अन्तरिवान्तः गर्भे इव निकटे एव अतिष्ठत् इत्यपश्यत्। ततोऽनु पश्चात् वत्सो विष्णोः पुत्रो ब्रह्मा गां यत्र स्वयं वत्साः स्थापितास्तां भुवं अमीमेत् परीक्षितवान्। ततस्त्रिषु योजनेषु व्यवहिते देशे विश्वरूपं अपश्यत्। विश्वस्य रूपस्य भावो विश्वरूपं यदेव योजनत्रयान्तरस्थेषु वत्सेषु रूपं तदेव कात्स्न्र्येन व्रजस्थेषु अप्यपश्यत्। ततश्चास्य इमे सत्या उत इमे इति संदेह एव आसीत्। गोगोपीवद्विशेषावधारणे सामर्थ्यं नासीदिति भावः ॥१२॥

अन्येषां विपर्यय एवासीदित्याह—

ये अर्वाञ्चस्तां उपरा च आहुर्ये पराञ्चस्तां उ अर्वाञ्च आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोमतानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१३॥

य इति। ये अर्वाञ्चो वत्सादयः कृष्णसृष्टाः तान्[1] पराञ्चः पूर्वान् ब्रह्म-सृष्टान् आहुः। एवं ये पराञ्चस्तां उ अर्वाञ्च आहुः इति अस्पष्टार्थः। कानेवं विपर्ययेणाहुरत आह—यान् यान् इन्द्रः कृष्णः चात् विधाता तौ उभौ चक्रथुः निमित्तवन्तौ[2] पुरुषव्यत्यय आर्षः, तानि तेषु ये अर्वाञ्च इत्युक्तम्। हे सोम! मनोऽभिमानिन्[3] धुरा न युक्ता रथादिधुरि नियुक्ता गवादय इव रजसः विपरीत-बुद्धिरूपं रजो वहन्ति नृपशवः ॥१३॥

---

१ ख. तां उ निश्चितं। २ ख. निर्मितवन्तौ। ३ ख. सोमाभिमानिन् विष्णो।

सन्त्वेवं गोब्रह्मेतरेषां वत्सवत्सपेषु कृष्णात्मसु प्रमासंशयविपर्यया: ये तु वत्सादयो वर्षमात्रं निरुद्धास्तेषां का गतिरित्याशङ्क्याह—

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशंते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥१४॥

यस्मिन् वृक्षे इति । मध्वदो अन्नमभन्तः सुपर्णाः शोभनं पर्णाः क्रूर्दनपराः बालाः यस्मिन् वृक्षे निविशन्ते उपविशन्ति, विश्वे सर्वे अधिसुवते च कृष्णमाज्ञापयन्ति च त्वमिदं वत्सान्वेषणं कुरु वयं अत्रास्महे इति । तस्यैव वृक्षस्य समीपे यत्पिप्पलं स्वहस्तस्थमुपदंशफलं अग्रे संवत्सरात् पूर्वं स्वादु इत् स्वाद्वित्याहुः । तत्पिप्पलमतीतेऽपि वत्सरे न उन्नशत् न उत्कर्षेण नष्टम् । तत्र हेतुमाह—यः पितरं न वेदेति । यः यत् यस्मात् पितरं संवत्सरं स भोक्तृजनो न वेद न जानाति । पितृशब्दश्च संवत्सरवाची । पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिमित्यत्र दृष्टः । संवत्सरमात्रः कालो गोपानां क्षणवद् गत इत्युपबृंहणे स्पष्टम् ॥१४॥

अथ गोवर्द्धनोद्धरणमाह—

आ ग्रावभिरहन्येभिरक्तुभिर्वरिष्ठं वज्रमा जिघर्त्ति मायिनि ।
शतं वा यस्य प्रचरन्स्वे दमे संवर्तयन्तो वि च वर्तयन्नहा ॥१५॥

आग्रावभिरिति । यस्य इन्द्रस्य स्वे दमे स्वकीये गृहे शतं शतसंख्याः वा शब्दाधिका वा संवर्तयन्तः संवर्त्तं प्रलयं कुर्वन्तः सांवर्तका नाम मेघगणाः प्रचरन् दासवच्चरन्ति । स इन्द्रः ग्रावभिरिति ग्रावसमुदायरूपः पर्वतो लक्ष्यते तेन अहन्येभिः अहः क्रतुं अर्हद्भिः[१] ऐन्द्रं महमुत्साद्य पर्वतमहे प्रवर्तिते सतीत्यर्थः । वरिष्ठं उरुतमं वज्रं वज्रपारं[२] वर्षेमायिनि मायामृगोनर्त्तके कृष्णे अक्तुभिः पुराणतः सप्तभी रात्रिभिः परिमितेन कालेन आजिघर्त्ति सर्वतः क्षरति । सप्तरात्रपर्यन्तं गोकुलोपरि कल्पान्तवर्षसमं वर्षं चकारेत्यर्थः । मायी तु अहा अहानि क्रतून् विवर्तयत् विपरीतं वर्तयन् कुर्वन्नेवाऽऽस्ते इति शेषः । तस्माद् वर्षान्न भयं चकारेति भावः ॥१५॥

तामस्य रीतिं परशोरिव प्रत्यनीकमख्यं भुजे अस्य वर्पसः ।
सचा यदि पितुमन्तमिव क्षयं रत्नं दधाति भरहूतये विशे ॥१६॥

---

१ ख. अर्हद्भिः हेतुभिः । २ ख. वज्रप्रायं ।

तामस्येति । तां महता वर्षेण व्रजो नाशनीय इत्येवंरूपां अस्य इन्द्रस्य रीतिं क्रियाप्रकारं परशोरिव केवलं जीवनच्छेदकरीमालोच्य अस्य इन्द्रस्य प्रत्यनीकं तदीयभागहर्तृत्वेन शत्रुं पर्वतं अस्य सत्प्रवार्षिकस्य वर्षसः स्वरूपस्य भुजे धृतमिति शेषः । अख्यमपश्यं न त्वयं पर्वतं धर्तुं तदा वामनवद्वृद्धिं देहेन प्रापेत्यर्थः । सचा सख्या गोपवृन्देन निमित्तेन यदि यदा पितुमन्तमन्नवन्तं क्षयं निवासमिव गोवर्द्धनमकरोत्, तदा विशे प्रजायै प्रजानां भोगार्थे तत्र रत्नं जातौ जातौ यदुत्कृष्टं वस्तु तत्सर्वं दधाति निदधाति । कीदृश्यै विशे भरहूतये भरस्य शैलभारस्य हूतिराह्वानं अङ्गीकरणं यस्यै सा भरहूतिस्तस्यै ॥१६॥

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः ।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ॥१७॥

तमस्येति । तं अस्य कृष्णस्य क्रतुं गिरियज्ञं वरुणो राजा तथा अश्विनौ देवौ तं क्रतुं सचन्त अनुकृतवन्तः मारुतस्य जगतां प्राणस्य वेधसः विश्वस्रष्टुः इन्द्रादन्येषां देवानां सक्रतुः सुखकरोऽभूदित्यर्थः । यत्र निमित्ते दक्षं दृढमहर्विदं क्रतोर्लब्धारं पर्वतं उत्तमं दाधार दधार विष्णुर्हस्तेनेति शेषः । व्रजञ्च तेनैवाहर्विदा शैलेन अपोर्णुते आच्छादयति, यतः सखिवान् मित्राणां त्राणार्थमित्यर्थः ॥१७॥

एवं गवां त्राणे कृते भग्नदर्प इन्द्र उपकृताः सुरभ्यादयो गावश्च प्रीताः सहभूय व्रजं प्रति आगन्तुं प्रार्थयन्ते—

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥१८॥

ता वामिति । ता तानि वां युवयोः रामकृष्णयोर्वास्तूनि क्रीडास्थानानि गमध्यै गन्तुं उश्मसि उश्मः कामयामहे । यत्र येषु वास्तुषु गावः भूरिशृंगाः महाशृंगाः अयासः अयन्ति संचरन्ति । अत्र अस्मिंल्लोके अह प्रसिद्धं तदुरुगायस्य महाकीर्त्तेर्वृष्णः परमानन्दवर्षिणः परमं महत् पदं स्थानं भूरि अत्यन्तमव भूभागे भाति ॥१८॥

एवं मनोरथं कृत्वा तेषु भूमावागतेषु इन्द्रं ज्येष्ठत्वेन बहु मानयन् भगवानुवाच—

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम् ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥१९॥

ऋषभमिति । हे इन्द्र मा मां समानानां सजातीयानां क्षत्रियाणामृषभं श्रेष्ठं कृधि, सपत्नानां शत्रूणां विषासहिं युद्धे सहनसमर्थं हन्तारं शत्रूणां कृधि तथा विराजं विशेषेण राजमानं कृधि, तथा गोपतिं मां गवां च विराजं कृधि ॥१९॥

ततो गोभिरिन्द्रेण च गवां राज्येऽभिषिक्तो विष्णुस्तान् स्तौति द्वाभ्याम्—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥२०॥

आ गाव इति । गावः आऽग्मन् आगताः उत अपि च भद्रं मम पट्टाभिषेकं चाक्रन् कृतवत्यः । उभयत्र मन्त्रे घसतेर्लुक् । गमहनजनेति गमेरुपधालोपः, संयोगान्तलोपश्चोभयत्र । अतः परं भवत्यः गोष्ठे सीदन्तु उपविशन्तु । अस्मे अस्मान् रणयन्तु रमयन्तु । प्रजावतीः प्रजावत्यः पुरुरूपाः श्वेतरक्तपाटलाद्यनेकरूपवत्यः इह स्युः भवन्तु । पूर्वीर्देवलोकस्थाः इन्द्राय सान्नाय्य भोक्त्रे नित्याग्निहोत्रे वाऽग्ने पूर्वाहुतिः प्रजापतेरुत्तरैन्द्रहुतमिति श्रुतेः प्रत्यहं उषसः उषःकालान् 'अत्यन्त-संयोगे' द्वितीया, दुहानां दोहं ददत्यः स्युरितीत्यपकृष्यते ॥२०॥

इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद्ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥२१॥

इन्द्र इति । इन्द्रो देवता यज्वने यजनशीलाय पृणते ददते च यजमानाय शिक्षति, कल्याणं पन्थानं दर्शयति, उपेत समीप एव अविलम्बेनैव ददाति स्वं क्रतुफलं न तु मुषायति न मुष्णाति । अव्यभिचारेण क्रतुफलप्रद इत्यर्थः । भूयो भूयोऽधिकमधिकमस्य यजमानस्य रयिं धनं इत् एव वर्द्धयन् तमेव देवयुं देवैर्यौति संयुज्यत इति देवयुस्तं देवानां भक्तं अभिन्ने शत्रुकृतभेदरहिते खिल्ये समुदाये निदधाति, तस्मै सजातानामाधिपत्यं ददातीत्यर्थः ॥२१॥

ततो निर्भया गाव आसन्नित्याह—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥२२॥

न ता नशन्तीति । ताः गावः न नशन्ति न नश्यन्ति तस्करश्च ताः गाः न दभाति नाभिभवति, अमित्रः अमित्रप्रभवो व्यथिः पीडा आसां गवां एताः गा न आदधर्षति न भीपयति, याभिः गोभिः यत्प्रभवैः पयआदिभिः देवान् यजते तथा याश्च ददाति दक्षिणात्वेन ताभिः गोभिः ज्योक् निरन्तरं गोपतिः सर्वोपि गोमान् सचत इत् संगतो भवत्येव ।।२२।।

न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः।।२३।।

न ता अर्वेति । ताः गाः अर्वा हयरूपी केशी नामासुरः रेणुककाटः रेणुना ककटयति अतिशयेन आवृणोति नभो गर्भं इति रेणुककाटः न अश्नुते न व्याप्नोति-वशीकर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः । तस्य गोयूथे प्रविष्टमात्रस्य कृष्णेन नाशितत्वात् तथा ताः गावः संस्कृतत्रं संस्कृतेनैव हविरादिना तृप्तः सन् त्रायत इति वा संस्कृतं अष्टाचत्वारिंशत्संस्कारवन्तं त्रायत इति, संस्कृतत्रोऽग्निस्तं प्रति नाभ्युपयन्ति, न च वाडवाग्नौ पतन्तीत्यर्थः । कृष्णेनैव वाडवस्यापि पीतत्वात् एतच्च रोगादेरप्युपलक्षणं निर्भयत्वे हेतुमाह—उर्विति । उरुगायं महाकीर्त्यभयं भयहीनमनुलक्ष्य तस्य मर्त्तस्य यज्वनो नन्दादेर्गावो विचरन्ति ।।२३।।

पूर्वमन्त्रोपन्यस्तस्य अर्वणो वधोऽन्यत्रापि श्रूयते—

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद्गुहा निषेदन् ।
विदन्तोमत्र नरो धियंधा हृदा यत्तष्टान्मन्त्राँ अशंसन् ।।२४।।

हस्त इति । हस्ते भुजे विश्वानि सर्वाणि नृम्णा बलानि दधानो हस्तेनैव गुहां अश्वस्य मुखगुहायां निषीदन् प्रविश्य स्थिरीभवन्, ततो मुखस्थे हस्ते विवृद्धिं गते कर्कटीफलवद्विदीर्णे च केशिनी देवान् अमे सुखे धात् अदधात् । एतच्च भागवते द्रष्टव्यम्; विदन्तीति ईमेनं सुखयितारमत्र भूमौ विदन्ति लभंते नरो मनुष्याः ये धियन्धाः बुद्धिं धारयन्तो निगृह्णंतो योगिनः, यत् यतः यदनुग्रहात् हृदा मनसैव तष्टान् परिच्छिन्नान् मन्त्रान् अशंसन् हिरण्यगर्भाद्याः शिष्येभ्योऽकथयन् । यथोक्तं 'तेने ब्रह्महृदा य आदिकवय' इति ।।२४।।

अपूर्वमन्त्रसूचितमग्निभयाभावे हेतुं कृष्णकृतमग्निपानं प्रदेशान्तरस्थेन मन्त्रेणाह—

स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारु वसानो वरुणो यतन्नरिम् ।
न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयं यतो भगः सविता दाति वार्यम् ॥२५॥

स जिह्वयेति । सः मायी यस्योपरीन्द्रेण सांवर्त्तको मेघगणः प्रेरितः सः दावाग्निरूपिणोऽसुरस्य विनाशे चतुरनीकोऽपि, चत्वारि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाख्यानि अनीकानि सैन्यानीव प्रतिपक्षक्षयकारणानि सन्त्यस्य स चतुरनीकः; तथा हि-'बहुभिः पांसुभिरद्भिर्वा तीव्रवायुना वा दीपार्चिवदग्निः शाम्यती'ति प्रसिद्धमासुरोऽग्निर्दैवेनाऽग्निनाऽपि शमयितुं युक्तः, माहेश्वरज्वर इव वैष्णवेन ज्वरेण। अथापि भक्तेषु अत्यन्तवात्सल्यात् स्वस्य जिह्वयैव अरिमासुरमग्निं रिञ्जते हिनस्ति । कीदृशः चारु वसानः रम्यं मनुष्यशरीरं दधान इत्यर्थः । वरुणः भक्तान् गोपादीन् स्वीयत्वेन वृण्वानः यतन् यतमानः तस्य एवंविधस्य पुरुषत्वता पौरुषाणि द्वितीयो भावप्रत्ययश्छान्दसः वयं न विद्म न जानीम । यतो मानुषेष्वदृष्टमपि दावाग्निपानं करोति । यतो यदनुग्रहात् भगो भाग्यवान् सविता सूर्यो वार्यं वारि स्वार्थे ष्यञ्, दाति ददाति ॥२५॥

यद्वा कृष्णं त एमेत्यस्यानन्तरं मन्त्रौ तत्रोदाहार्यः—

सद्यो जातस्य दद्दशानमोजो यदस्य वा तौ अनुवाति शोचिः ।
रिणक्ति तिग्मामतसेषु जिह्वाँ स्थिराविदन्ना दयते विजम्भैः॥२६॥

सद्यो जातस्य शिशोरेव कृष्णस्य ओजः सामर्थ्यं ददृशानं ददृशे दृष्टं पूर्वमित्यर्थः । यत् शोचिः ज्वालाजालमतसेषु शुष्कतृणेषु वातो अनुवाति संवर्द्धयति तदस्य शिशोस्तिग्मां जिह्वामनु इत्यनुहृष्यते[1] तां प्राप्येत्यर्थः। रिणक्ति रिच्यते नश्यतीत्यर्थः । स्थिराविदन्ना यथा [2]स्थावरपायसाद्यन्नं तद्वदित्यर्थः । तत्र हेतुमाह-दयते विजम्भैरिति । एवमयं सद्योजातो जम्भैरसुरैर्हेतुभिर्विशेषेण दयते तैः पीडितं लोकं पालयति । अतो महाकारुणिकोऽयमेव शरणीकरणीय इति भावः ॥२६॥

उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यताम् ।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये ॥२७॥

---

१ ख. इत्यनुकृष्यते । २ ख. स्थि

उपेदमिति । हे उपेन्द्र ! तव वीर्ये जाग्रत्यपि सत्यासु गोष्विदमुपपर्च्चनं नेहितस्य[1] गर्भस्य विनाशार्थं पुनः ऋषभासुरेण क्रियमाणं रेतःसेचनमुपपृच्यताम् । उपेत्य संसृष्टं भवति[2] । अर्द्धर्चयोराद्यौ उपशब्दो पादपूरणार्थौ । ऋषभस्य रेतसि निमित्तभूते सति ॥२७॥

इत्थं गोपवचः श्रुत्वा कृष्णेन कृतो वृषभवधः प्रदेशान्तरे श्रूयते—

प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति ।
स तिग्मशृङ्गं वृषभं युयुत्सन् द्रुहस्तस्थौ बहुले बद्धो अन्तः ॥२८॥

प्र नेमस्मिन्निति । योऽन्तर्गोपाः अन्तर्यामी नेमस्मिन् अर्द्धे स्थावरप्रपञ्चे सोमो नाम तत्पोषकः प्रददृशे प्रकर्षेण दृष्टो वेदे 'सोम ओषधीनामधिपति' रित्यादौ, यश्च नेममर्द्धप्रपञ्चः अस्था अस्थावरं जंगमत्वेनाविःकरोति[3] विस्पष्टयति । सोऽन्तर्गोपाः तिग्मशृङ्गं तीक्ष्णशृङ्गं वृषभं वृषभासुरं युयुत्सन् योद्धमिच्छन् द्रुहो द्रुह्यन् तस्थौ हत्वा[4] स्थितोऽभूदित्यर्थः । कीदृशोऽसौ ? बहुले महति जने संसारेऽन्तर्हृदयपुण्डरीकरूपे उपाधौ बद्धो मायया रुद्धोऽस्ति । योऽयमन्तर्यामी जगद्धेतुः स एव जीवभावं प्राप्तान् स्वप्रतिबिम्बान् स्थावरजङ्गमान् पातीति भावः ॥२८॥

अथाघासुरग्रस्तमात्मानं गोपजनो निवेदयति—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः ।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥२९॥

अजो न क्षामिति । यथा अजो विष्णुः पृथिवीं महतीं क्षां भुवं दाधार दधार द्यां च तस्तम्भ मन्त्रैः स्वीयैर्विचारैः बलिबन्धनार्थकृतैः सत्यैर्निमित्तभूतैः । एवमयमसुरोऽस्मान् ग्रसितुमधरेण हनुना भुवमाक्रम्योर्ध्वेण च दिवमुत्तभ्यास्ते । अतस्त्वं प्रिया प्रियाणां गोपानां पश्वः पशूनां च पदानि मार्गगमनचिह्नानि निपाहि निलीनानि सर्वेषामसुरमुखे प्रविष्टत्वात् पाहि, अर्थात्तानेव निपाहीत्यस्य निहीनान्यनुलक्ष्य त्राहीत्यर्थः । तत्रोपायमाहुः—विश्वेति । विश्वायुर्विश्वस्य जीवनप्रदाता त्वं हे अग्ने ! अन्तः प्रविष्टः[5] अस्माकं पुरोभागे गुहा रक्ष ।

१ ख. निहितस्य । २ ख. संसृष्टं कथं जायताम् । ३ ख. आविःकृणोति । ४ ख. युद्धेन हत्वा : ५ ख. जाठररूपेण अन्तःप्रविष्टः ।

शरीरगुहायां गुहं गूढं यथा स्यात्तथा गाः गच्छेत्यर्थः। अयं भावः—अस्य वृक्षादिना वधेऽन्तर्गतानां वधः स्यादतोऽस्यान्तः प्रविश्येतोप्यधिकया स्वशरीरवृद्धया एनं विदारयेति। तच्च तथैव चकार भगवान्। अत एव वाक्यशेषे सद्मेव धीरा सम्मायचक्रुरिति तच्छरीरस्य सद्माकारत्वं श्रूयते पुराणे च तस्य गोपीक्रीडा-स्थानत्वं स्मर्यते ॥२६॥

तदेवं सूयवसादित्यादिग्रन्थेन गवां लालनपालनादिकमुक्तं। सम्प्रति वयः-सन्धिगतस्य भगवतो गोपीषु विनोदादिरनुग्रह उच्यते—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदो बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥३०॥

गौरीरित्यादिना। यः प्रपूर्वं मन्त्रे ऋचो अक्षरे इत्यत्राक्षरत्वेनोक्तः, सः सहस्राक्षरा वाग्देवतारूपः परमे व्योमन् तीरतरोरुच्चप्रदेशे स्थित्वा गौरीपतिंवराः कन्याः मिमाय चिक्षेप निनिन्देत्यर्थः। कथं सलिलानि तक्षति त्वं यदि बभूवुषी असि तर्हि एकपदीत्यादि नवपदी भवेति, जात्यभिप्रायेण एकवचनम्। अयमर्थः—या नग्नीभूय तीर्थजलानि स्पृशन्ती स्त्री तीर्थशक्तिं क्षिणोतीति, यूयं च सर्वास्तथाभूता स्वापराधजेन दोषेणाभिभूताः स्थ। यदिच तत्परिहारेण भवतीनामैश्वर्येच्छास्ति तर्हि नग्ना एव सत्यः एकपद्यो भव श्री[1] एकपदं बहिरागच्छेत्यर्थः। तथा कृते पुनर्द्विपदीभवन्त्याह—एवं नवपदीत्यन्तं मत्कृतास्तद्वचनमलङ्घयन्त्यस्तथैव कृत्वा वस्त्राणि परिदध्युः। उपबृंहणे तु व्योमस्थत्वं वस्त्राणि हरत एवोक्तमतो नवपद्यनन्तरं वस्त्राणि ददावित्यपि योज्यम् ॥२६॥

एवं विप्रलब्धानामपि तासामात्मन्यनुरागमालक्ष्य शारदिकासु रात्रिषु ताभ्यो रतिमदात् तत्र रात्रिं वर्णयति ऋषिः—

ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः ज्योतिषा बाधते तमः ॥३१॥

ओर्वप्रा इति। हे रात्रि देवी त्वं दीव्यन्ती अमर्त्या अमानुषी त्वमुरु अन्तरिक्षं तेन तत्स्था इन्द्रवाय्वाद्या लक्ष्यन्ते तान् तथा निवतो निहीनं स्थानं येषामस्ति तान् निवतो भूचरान् एवं उद्वतः देवगन्धर्वाः सूर्यादींश्च अप्रा प्रीतवत्यसि। यतो

१. स्र. त।

भवती ज्योतिषा चान्द्रेण तमो बाधते, ज्योत्स्नावत्यो रात्र्यः त्रैलोक्यमानन्दयन्तो-त्यर्थः ॥३१॥

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेष प्रतीका ।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् ॥३२॥

सेनेवेति । यमोऽग्निरूपोऽन्तर्यामी जातोऽतीतोऽर्थस्सर्वोऽपि स एव एवं जनित्वं जनयितव्यमपि यम एवातः स एव कनीनां कन्यानां जनीनां युवतीनां च जारः पतिश्च सन् तासु अमं सुखं दधाति धारयति । तथा कन्या जनीयश्च जारेऽप्यमं दधाति । सर्वत्रैकवचनमार्षं जात्यभिप्रायं वा । तत्र दृष्टान्तः—अस्तुर्जलप्रक्ते(क्षे)प्तुः मेघस्य दिद्युत्[1] विद्युत् यथा अमं कान्तिं दधाति तथेत्यर्थः । कीदृशी सेनेव, सर्वाङ्गसाकल्येन सृष्टा कन्याजनी-च त्वेषः प्रतीका दीप्यमान-शरीराश्रियः कृष्णश्चान्योन्यं शोभां[2] जनयन्तः क्रीडन्तीत्यर्थः ॥३२॥

अत्र स्त्रीणामाकर्षणार्थं भगवता वंशीरवः कृतस्तं वर्णयत्यृषिर्द्वाभ्याम्—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥३३॥

गायन्तीति । हे शतक्रतो तदुपाधिकविष्णो त्वा त्वां गायत्रिणः गायत्र्याख्यसामगातारो गायन्ति, तथा अर्किणः सोमाज्यपयःप्रभृति इव द्रव्यवन्तो यजमानाः अर्कमर्कमण्डलान्तस्थं त्वामर्चन्ति पूजयन्ति । 'ते च कर्मानुरूपं देहं प्राप्य देवलोके गान्धर्वं शृण्वन्तीति भावः'[3] ये तु त्वा त्वां[4] वंशमिव मुरलीकाण्डमिव तदेव वादयितुं, उद्येमिरे उद्य कारितवन्तः । ते वृन्दावनस्थाः स्थावरजङ्गमाः ब्रह्माण एव त्वच्छरीराश्रितानेककोटिब्रह्माण्डा-धिपतयोऽत्र स्थावरादिरूपेण स्थित्वा त्वां मुरलीवादने प्रवर्तयन्तीत्यर्थः ॥३३॥

यत्सानोः सानुमारुहद्भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥३४॥

इति वृन्दावनकाण्डं समाप्तम् ।[5]

---

१. ख. न इव दिद्युत् । २ ख. विद्युद्धनवच्छोभां ।
३ '-' चिह्नान्तर्गतोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके । ४ ख. त्वां गेयमर्च्यं च । ५ ख. नास्ति ।

इन्द्रो भगवान यत् यदा सानोः सानु उच्चादुच्चं स्थानमारुहत् आरूढवान् कर्त्वं कर्त्तव्यं च मुरलीरवं[1] ततः स्थानात् भूरि अत्यन्तमस्पष्ट स्पष्टीकृतवानसि सर्वेषां श्रवणगोचरं कृतवानसि, तत् तदा अर्थं अर्थ्यमानं जडमपि स्थावरं चेतति चेतनवत् आह्लादवत् भवति । किमुत जङ्गमं तदा च वृष्णिः वृष्णिवंश्यः कृष्णः स्वयूथेन सह एजति एजते अत्यन्तं शोभते इत्यर्थः ।।३४।।

ननु धर्मस्थापनार्थं एवावतीर्णस्य भगवतो बाल्ये मातृत्यागादिकं वयः-सन्धौ च जारकर्मेत्ययुक्तमित्याशङ्क्य परिहरति श्रुतिः—

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ।।३५।।

साकमिति द्वाभ्याम् । ये पूर्वं सप्तार्द्धगर्भा उक्तास्तेषां साकंजानां सह-जातानां मध्ये सप्तथं सप्तमं रामं एकजं एकस्य ब्रह्मणोंऽशाज्जातं जीवमाहुः षडित् 'षडेव यमाः यमलजाः ऋषयः षडिन्द्रियाणि प्राणा वा ऋषयः' इति श्रुतेः । देवजा देवेभ्यश्चन्द्रादिभ्यो जाता इत्याहुः । तेषामृषीणामिष्टानि इष्टादिफ-लभूतानि शरीराणि धामशः धामसु (धामस्वधिदेवं स्वे स्वे स्थाने विहितानि विशेषेण धृतानि सन्ति । चन्द्रादिमण्डलेषु तान्येव स्थात्रे सप्तमाय जीवस्य भोगार्थं रूपशः रूपै रूपैरिति रूपशः [2]श्रोत्रादिरूपेण विकृतानि सन्ति रेजन्ते शोभन्ते लोके । एतेन करणानि लौकिकदृष्ट्या नित्यान्यप्यध्यात्मदृष्ट्या अविद्यावा-सनायां लयोदयवन्ति । भोक्तानुस्थिरेति सप्तार्द्धगर्भमन्त्रस्य तात्पर्यं दर्शितम् । अयं भावः-यथा भारते जरत्कारवे पितृभिः कुशस्तम्वमूलगर्त्तमूषकादिरूपकेण स्ववंशस्तम्बपुरुषसंसारगर्भकालाः प्रदर्शिताः । एवमत्र देवक्यादिरूपेणाध्या-त्मिकोऽर्थो दर्शितो नत्विहाख्यायिकायां तात्पर्यमिति ।।३५।।

द्वितीयं दोषं परिहरति—

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पि-तासत् ।।३६।।

---

१ ख. वंशीरवं ।

२ ख. तत्तत्पुरुषीयश्रोत्रादिरूपेण ।

स्त्रियः सतीति । स्त्रियः गोप्योऽपि सती अविप्लुतस्वधर्मा एव, यतः तान् ताः पुंस्त्वमाशुः 'ता उ म' इति तैत्तरीयाः स्त्रीत्वमेवाऽत्र दर्शयन्ति । ताः स्त्रियः पुंसः महापुरुषसम्बन्धिनीरेवाहुः । जगदात्मना कृष्णेन सह रममाणानां तासां न पातिव्रत्यभङ्गोऽस्तीत्यर्थः । एवं पश्यत् पश्यन् अक्षण्वान् चक्षुष्मान् न विचेतत् एतदजानन् अन्ध एव । एवं यः कविः क्रान्तदर्शी भगवल्लीलातात्पर्याभिज्ञः स ईं इमानि सर्वाणि भूतानि चिकेत जानीते । यश्च ता तानि विजानात् विजानीते स पितुष्पिता गुरोरपि गुरुः सनसत् दीप्यते । अत्राप्याख्यायिकायां तात्पर्याभावादर्थान्तरमेव विवक्षितमिति न कश्चिद्दोषः इत्यर्थः ॥३६॥

एतदेव स्पष्टयति—

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते न हि यूथे अन्तः ॥३७॥

अव इति । परेण यदा निवृत्तिरूपेणालम्बनेन अवः अवरं वत्सं धर्मं बिभ्रती प्रकाशयन्ती तथा वरेण प्रवृत्तिरूपेण पदा परः परमं धर्मं प्रकाशयन्ती गौः वाणी एना एतान्याख्यानानि उदस्थादुत्क्रम्य स्थितवती । न हि वेदे आख्यायिकाः प्रतिपाद्यन्ते अपि तु तद्द्वारेण परापररूपो धर्म एवेत्यर्थः । सा प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपा वाक् कद्रीची केन सह अन्ति[1] प्रकाशते । कमर्थवाच्या वृत्त्याऽभिधत्ते, कं स्विदर्धं, किं वा स्थानं परागात् दूरे गच्छति[2] किं तात्पर्येण प्रतिपादयति, क्व स्वित्सूते, कस्मिन्नधिकारिणि सूते प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं फलं जनयति ? एवत्सर्वं दुर्ज्ञेयमित्यर्थः । हि यतः इयं यूथेऽन्तर्न यौति मिश्रीभवति, पृथक् भवत्यनात्मा[3] अवान्तरवाक्यानि वात्रेति यूथं चिज्जडसंघातकथाप्रबन्धो वा तत्र अन्तस्तन्मात्रपर्यवसायिनी इयं, न हि किन्तु संघातादन्यमेव प्रतिपादयतीत्यर्थः । यथा न हिं स्यात् सर्वभूतानीति रागतः प्राप्तहिंसानिवृत्तिमुखेन अहिंसाख्यो योगाङ्गभूतो यमविशेषो विधीयते । स एव सम्यगनुष्ठितः अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः इति योगशास्त्रोक्तं फलं प्रसूते । तत्त्वेतस्य[4] फलं किन्तु निरोधसमाधिरेव तथा च निवृत्तिमुखेन अवरधर्मार्थमपि विधीयमानं साधनं परधर्म एव पर्यवस्यति । प्रवृत्तिमुखेन परमो धर्मस्तु आख्यायिकाभ्य एव उन्नेयः ।

---

१ ख. अञ्चति । २ ख. गतवती । ३. ख. भवतीति यूथमनात्मा ।
४ ख न चैतत्तस्य ।

पूर्वमन्त्रोक्तदिशा चित्कृष्णो वृत्तिं गोपीषु विद्या वा नितरां जहौ। तां च त्यक्त्वैक्यतृप्तः संस्ताभ्योऽदाद्रतिजीविते इति रासक्रीडातात्पर्यम् ॥३७॥

एतदेव वत्सादीन्हरता ब्रह्मणा ज्ञात्वा उक्तमित्याह—

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥३८॥

अस्य जगतः पितरं योऽनुवेद शास्त्राचार्योपदेशमनु जानाति, स कवीयमानः वस्तुतत्वालोचनपरः कः प्रजापतिः इह लोके प्रवोचत् प्रोक्तवान् । किं प्रोक्तवान् ? देवं क्रीडापरं मनः कुतो अधिप्रजातं तत् मनसो योनिभूतं वासनाजालमेव संसारमूलमित्युक्तवानित्यर्थः । शेषमुक्तार्थं[1] य अर्वाञ्च इति ऋक् व्याख्याता । द्वासुरिति[2] मन्त्रो[3] लीलापक्षे[4] यथा श्रुत्यार्थ एव अन्य एकः अभिचाकशीति सर्वतः प्रकाशते । शेषं स्पष्टम् ॥३८॥

कुत्र कशब्दितस्य ब्रह्मण एवं ज्ञानं जातं तदाह—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥३९॥

यत्रेति । यत्र स्थाने सुपर्णाः कूर्दन्तो गोपाः अमृतस्य भागं अन्नकवलमनिमेषं निमेषमात्रमपि कालमनतिक्रान्तं विदथा ज्ञानेन स्वप्रत्ययेन मन्यमानाः अभिस्वरन्ति एहि कृष्ण इति कृष्णं गवामन्वेषणार्थं गतमभितः स्वरन्ति आकारयन्ति । अत्र स्थाने इनः स्वामी विश्वस्य कृत्स्नस्य भुवनस्य गोपाः पालकः स वेदान्तप्रसिद्धो धीरो मया वत्सान् हरता व्याकुलीकृतोऽप्यव्याकुलः मा मां पाकं विशुद्धान्तःकरणमाविवेश, ज्ञप्तिमात्ररूपो मह्यं स्वात्मज्ञानं दत्तवान् कृत्स्नं स्वलीलातात्पर्यं दर्शितवानित्यर्थः । अत्र 'द्वा सुपर्णे'ति मन्त्रस्य तात्पर्यं यास्कोक्तदिशा—

जीवेशौ पक्षिणौ देहवृक्षे जीवोऽभिमानतः ।
भुङ्क्ते देहगतं दुःखं नान्यः तत्स्थोप्यसङ्गतः ।

१ ख. सर्वोऽप्युपदेशो मनोनिग्रहान्त इति भावः शेषमुक्तार्थं । २ ख. द्वा सुपर्णेति ।
३ ख. ऋक् । ४ ख. कथापक्षे ।

इति। एवमध्यात्ममधिदेवं च यत्रा सुपर्णेत्यस्यापि तात्पर्यं तत एवावगन्तव्यम्। ननु कुत एवं द्वेधा व्याख्यानं सर्वेषां मन्त्राणां क्रियत इत्याशङ्क्य स्कन्दकैलाससंहितायां दहरविद्याव्याख्यानप्रसङ्गे उक्तम्—

सैषा दहरविद्याऽत्र द्विधा ते परिकीर्तिता।
आध्यात्मिकी भवेदेका तथान्या त्वाधिभौतिकी।
तत्र त्वाध्यात्मिकी सर्वैर्दुष्करा न हि संशयः।
आधिभौतिकसंज्ञा तु तस्मात् भुक्त्यर्थमाचरेत्।
सा तु 'दभ्रसा मा'[1] मध्ये नृत्यमानस्य शूलिनः।
दर्शनं नान्यदित्येतत् सम्यगत्र मयोदितम्।

तत्रैव दहं विपापं परमेऽश्मभूतं उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्।

इत्यादीनि वाक्यानि उदाहृत्य—

याजुर्वेदं वाक्यमेतत् तथाऽन्यच्चेदृक् स्यादत्र शाखान्तरेऽपि।
आलोच्यैतत् सर्वमेतत् प्रयत्नाद् व्याख्येयं स्यादस्मदुक्तानुसारात्॥

इति सर्वत्र व्याख्याद्वैविध्यस्यातिदेश उक्तः। तेन येऽध्यात्मनिरोधसमाधावनधिकारिणस्तेषां आधिभौतिकी भगवल्लीला हृद्यारूढा चेत् समाधिफललाभो भवति। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीमद्भागवते—

आच्छिद्य कीर्त्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यंजसानु कौ।
नमोऽनया तरिष्यन्ति त्यागात्स्वं पदमीश्वरः॥

इति। पुराणान्तरेष्वप्याधिभौतिकांश एव भूयसा ग्रन्थेनोपबृंहित इति स्पष्टम्। वेदे चोक्तम्—'विष्णो कर्माणि पश्यते'ति उपपादितं चैतदुपोद्घात एवेति दिक्॥३६॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धर-चतुर्द्धर-वंशावतंस-गोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतौ स्वोद्धृतमन्त्रभागवतव्याख्यायां मन्त्ररहस्यप्रकाशिकायां वृन्दावनकाण्डो द्वितीयः (२)।

———

१ ख. दभ्रसभा।

३. अक्रूरकाण्डम्

अथाक्रूरकाण्ड आरभ्यते। तत्र देवानां दूत इत्यादयः षड्विंशतिर्मन्त्राः प्रजापतिना दृष्टाः अक्रूरस्य व्रजे गमनं गोपीविलापं च प्रतिपादयन्ति तान्व्याकुर्मः। तत्र चत्वारो मन्त्राः, अक्रूरवाक्यम्—

देवानां दूतः पुरुध प्रसूतोऽनागान्नो वोचतु सर्वताता।
शृणोतु नः पृथिवी द्यौरुतापः सूर्यो नक्षत्रैरुर्वन्तरिक्षम् ॥१॥

देवानामिति। अहं देवानां [1]कंसवधाद्यभिमानिनामग्न्यादीनां दूतोऽस्मि। पुरुध बहुप्रकारेण प्रसूतः कंसवधार्थिभिस्तैः कृष्णमानेतुं व्रजं प्रति प्रेषितोऽस्मि। अतो नोऽस्मान् अनागान् निर्दोषान्[2] सर्वताता विश्वम्य पिता श्रीकृष्णः वचनेन वोचतु वचनेन सम्भावयतु। तातेति सुपो डादेशः। तापृ धातोः सृजन्तं वा। तदिदं नोऽस्माकं प्रार्थनावाक्यं "पृथिवीद्यौरुत आपः सूर्यश्च नक्षत्रैः सह उरु महत् अन्तरिक्षं अन्तरिक्षस्थानं देवतायूथं इन्द्रवाय्वादिकं च शृणोतु। एते देवा ममानुकूला भवन्त्वित्यर्थः ॥१॥

शृण्वंतु नो वृषणः पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्तः।
आदित्यैर्नो अदितिः शृणोतु यच्छन्तु नो मरुतः शर्म भद्रं ॥२॥

शृण्वन्त्विति। नोऽस्माकं वाक्यं वृषणः मनोरथवर्षिणः पर्वतासः पर्वताः ध्रुवक्षेमासः नित्यकल्याणाः इच्छया अन्नेन मदन्तः पुष्यन्तः आदित्यैः सहादितिश्च नः शृणोतु, मरुतश्च भद्रं शर्म अनिष्टाननुबन्धिकल्याणं यच्छन्तु मह्यम् ॥२॥

सदा सुगः पितुमां अस्तु पन्था मध्वा देवा ओषधीः संपिपृक्त।
भगो मे अग्ने सख्ये न मृध्या उद्रायो अश्यां सदनं पुरुक्षोः ॥३॥

सदेति। सदा नित्यः सुगः शोभनगमनः पितुमान् अन्नवान् अस्तु। पन्थाः मार्गः मध्वा मधुना भो देवाः ओषधीः मार्गस्थाः सम्पिपृक्त संयोजयत। हे अग्ने मे मम भगः षड्विधमैश्वर्यमस्तु। सख्ये परमात्मलाभाय न मृध्याः मृधं संग्रामं मा

---

१ पुस्तके तु 'कंसवागाद्यभिमानिनां' इति पाठः। २ ख. निर्दोषान्प्रति।

कुरु, संग्रामफलेन स्वर्लाभेन तत्र कृष्णलाभे विघ्नं मा कुर्वित्यर्थः। पुरुक्षो बहुक्षुवतः विश्वसृजः कृष्णस्य सदनं अस्यां प्राप्नुयाम्। कीदृशस्य उद्रायः उत्कृष्टसम्पदः ॥३॥

एवं मनोरथं कुर्वन्नागतोऽक्रूरः श्रीकृष्णं प्राप्याह—

स्वदस्व हव्या समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक्सम्मिमीहि श्रवांसि।
विश्वाँ अग्ने पृत्सु ताँज्जेषि शत्रूनहा विश्वा सुमना दीदिही नः ॥४॥

स्वदस्वेति। हे अग्ने! सर्वदेवतामुखभूताग्न्यभिमानिन् विष्णो हव्या शुचीनि भक्तजनाहृतानि उपायनानि स्वदस्व आस्वादय, इषोऽन्नानि संदिदीहि सम्यक् दीपय वर्द्धयेत्यर्थः। अस्मद्यक् अस्माभिः सह अञ्चति गच्छतीत्यस्मद्र्यक् अस्मत्पक्षीयो भूत्वेत्यर्थः, श्रवांसि परेषां यशांसि सम्मिमीहि परिमापय, स्वीयैर्यशोभिरतिक्रमस्वेत्यर्थः। पृत्सु संग्रामेषु विश्वान् शत्रून् तान् प्रसिद्धान् कंसादीन् जेषि जयसि जयेति वा। नो अस्माकं अहा क्रतून् सङ्कल्पान् विश्वा सर्वान् सुमनाः प्रसन्नः सन् दीदिहि प्रकाशय। ।४।।

एवमक्रूरेण प्रार्थनापूर्वकं कृष्णे व्रजात् मथुरां प्रति नीयमाने तद्वियोगेन शोचन्त्यो गोपिकाः वियोगहेतून् देवानधिक्षिपन्ति, सम्पूर्णेन सूक्तेन प्रजापतेरार्षं वैश्वदेवं चैतत्सूक्तम्—

उषसः पूर्वा अध यद्व्यूषुर्महद्वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः।
व्रता देवानामुप नु प्रभूषन् महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥५॥

उषस इति। अध अहो यत् यदा पूर्वाः उषस व्यूषुः, इतः प्राक्तनाः उषःकालाः प्रादुष्यु[1]ः, तदा गोः व्रजाद् वनं प्रति प्रातः प्रातः प्रतिष्ठन्त्याः पदे महदक्षरं परमं पदं विजज्ञे जनयामास। कः देवानां इन्द्रादीनां व्रता व्रतानि "एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धानि आत्मज्ञानार्थं कृतानि ब्रह्मचर्याणि उप नु अतिसमीप एव अविलम्बितमेवं प्रभूषन् प्रकर्षेण भूषयन्, अनेककोटिजन्माराधनप्राप्योऽपि अल्पेनैव कालेन दर्शनं दत्वा तेषां सुव्रतत्वमापादयन्नित्यर्थः। यो देवो महता व्रतेन स्वं अक्षरं पदं तद्विष्णोः परमं पद'मिति वेदान्तप्रसिद्धं दर्शयति स महाकारुणिकतया तदेव नित्यं गोऽनुगामी

---

१ ख. प्रादुर्बभूवुः।

सन् गोष्पदे निहितं दर्शयति तादृशं देवमस्मत्तोऽपनयतां देवानां महदसुरत्वं[1] *एकं मुख्यं श्रेष्ठं* नृशंसमूर्द्धन्या देवा इत्यर्थः । अयं भावः-प्रणवादिप्रतीकं महतामपि चिरमुपासितं तुर्यप्रतिपत्तिहेतुः नन्दकुमारपदं तु गोष्पदान्तर्गततया अत्यल्पमल्पकालीनं च सकृद् दृष्ट्वा ब्रह्म प्रतिपद्यन्ते, अहो भाग्यवन्तो व्रजवासिन इति । तत्र प्रणवे यथा परं चापरं च ब्रह्म यद् ओंकार इति परापरब्रह्मत्वमेवं कृष्णपदेऽपि महदक्षरत्वं तत्प्रतिपत्त्युपायत्वादिति ध्येयम् ॥५॥

मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः ।
पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥६॥

मो षू ण इति । अत्र अस्मिन् गोष्पदस्थे महत्यक्षरे पदे विषये सुशोभनान् भक्तान् नः अस्मान् देवाः मो मैव जुहुरन्त इतो बलान्माऽपहरन्तु, हृ प्रसह्य हरणे इत्यस्य रूपं । तस्मादेषां तन्न प्रियं, यदेतन्मनुष्या विद्युरिति देवानां तद्दर्शनविघ्नकारित्वं प्रसिद्धम् । तथा हे अग्ने ! पूर्वे पदज्ञाः उक्तविधस्य पदस्य वेदितारः पितरः विद्यावंशप्रवर्तकास्तेऽपि विद्यागोपनपराः सन्तोऽत्र नोऽस्मान् मा जुहुरन्तेति अनुषङ्गः । कोऽसौ यस्य पदमतिरहस्यमत आह—पुराण्योरिति पुराणयोरकारलोप आर्षः, ऋणो रक्षं न चक्रयोरिति चक्रयोरित्यपेक्षिते सद्मनोरुपाध्योः कार्यकारणरूपयोरित्यर्थः । अन्तर्मध्ये सन् केतुर्ज्ञापकः यत्प्रसादादुपाध्योः स्वरूपं सिद्धयति स चिदात्माऽसौ इत्यर्थः, महदित्यादि प्राग्वत् ॥६॥

वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामाः शम्यच्छा दीद्ये पूर्व्याणि ।
समिद्धे अग्नावृतमिद्वदेम महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥७॥

वि मे इति । काचिदाह—मे मम कामाः विषयाः भोगोपकरणसामग्रयः विपतयन्ति विशेषेण पतनं यतस्तत्कुर्वन्ति ते विपतयन्ति दृष्टमात्रा एव शोकेन मूर्च्छां जनयन्तो भुवि मम पतनं कुर्वन्तीत्यर्थः । अतः पूर्व्याणि प्राचीनानि शमि सुखानि, शमिति मान्तस्य क्लीवस्य बहुवचनं, अज्झलन्तत्वान्न नुम्, अच्छ साक्षात्कृत्येति शेषः । दीद्ये दीप्येऽणिमि मूर्च्छिता सती कृष्णक्रीडावेशज्वरेण जीवामीत्यर्थः । अत्र शपथपूर्वकं देवान् उपालभन्ते । सर्वा अपि समिद्धे प्रदीप्ते अग्नौ साक्षिणि सति ऋतमित् सत्यमेव वदेम, यत् देवानां महदेकमसुरत्वमिति ॥७॥

---

१. ख. महदेकं अद्वितीयमसुरत्वं । *-*चिह्नगोंऽशो नास्ति ख. पुस्तके ।

समानो राजा विभृतः पुरुत्रा शये शयासु प्रयुतो वनानु ।
अन्या वत्सं भरति क्षेति माता महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥८॥

समान इति । समान एक एव सन् राजा सर्वगोगोपीगणस्य रञ्जकः पुरुत्रा अनेकधा विभृतो विविधेन रूपेण भृतः पोषितो गोभिर्वत्सरूपी सन् गोपीभिर्वत्सपरूपी सन् । कस्मिन्निमित्ते इदमभूत् ? शये इति । शेरते अस्मिन्निति शयो व्यामोहः तस्मिन् सति शयासु व्यामोहवतीषु गो-गोपीषु कृष्ण एवायं वत्स-वत्सपरूपेण अस्मानुपेत्य नन्दयतीति अजानंतीषु प्रयुतः प्रकर्षेण स्नेहातिशयेन संलग्नः, कदा वनानु वनान्यनु परिक्रम्य वत्सवत्सपरूपेणागतः सन्नित्यर्थः । ब्रह्मणानीतेषु वत्सवत्सपेषु तन्मातॄरानन्दयितुं स्वयं यथातद्रूपो बभूव । एवमक्रूरेण हृतोऽपि अस्मानानन्दयितुं द्वितीयं रूपं कुतो न धत्ते इति अहो दौर्भाग्यमस्माकमिति भावः । आस्तां अस्मत्सदृशीनां दासीनां कथा, मातरमपि कथमसावुपेक्षत इत्याहुः—अन्येति । अन्या देवकी मथुरायां वत्समिव वत्सं स्वसखीपुत्रमेनं भरति पुष्णाति, माता यशोदा क्षेति वियोगेन[1] क्षीयतेऽतोऽयमेव निष्ठुरः,[2] किमु तत्सहचराणां देवानां नैष्ठुर्यं इत्यर्थः ॥८॥

आक्षित्पूर्वास्वपरा अनूरुत्सद्यो जातासु तरुणीष्वतः ।
अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥९॥

आक्षिदिति । जातधर्माप्ययं[3] अतिरूक्ष इत्याहुः, पूर्वासु पूर्वं परिगृहीतासु युवतीषु विषये आक्षित् आ समन्तात् क्षिणोतीति सर्वप्रकारेण वियोगदुःखद इत्यर्थः । अपरा अपरासु युवतीषु निमित्तभूतासु अन्तः हृदि अनूरुत् अनुरुध्यत इत्यनूरुत् तासामनुरोधं करोति ताः परित्यज्य अस्मान् प्रति नायातीत्यर्थः । कीदृशीषु सद्यो जातासु कुब्जादयो हि जरठाः कंसदास्यः स्वामिद्रोहिण्यः कंसस्वं अनुलेपनं किञ्चिद् दत्त्वा सद्यस्तरुण्य ऋज्व्यश्च जाताः, वयं तु अन्तर्वतोः अन्तर्नित्यमेनमेव ध्यायन्त्यः अप्रवीताः अनन्यगामिन्यः लज्जाजवनिकामुन्मुच्य स्वपतिपुत्रादीनगणय्य प्रकाशमेव एनं प्रत्यभिसृताः स्वैकशरणः तादृशीरस्मान् सुवते हिनस्ति, सुवत इत्यात्मनेपदेन

१ ख. वियोगदुःखेन । २ ख. निर्घृणः । ३ ख. जारधर्माप्ययं ।

अस्मद्धिसाजन्यं दोषं अङ्गीकुर्वाणोऽयं शरणागतोऽपेक्षादोषादपि न विभेतीत्युक्तम्। अत्र हेतुभूतानां देवानामिति प्राग्वत् ।।६।।

ननु उपमातरं यशोदां परित्यज्य साक्षाज्जननीमानन्दयतो न मम दोष इत्यन्या वत्सं भरति क्षेति मातेत्ययुक्तमुक्तं, तथा कौमारे कामचारेण चरतोऽपि प्रौढतायां वर्णाश्रमधर्मानुरोधात् पूर्वासु स्त्रीषु अरुचिरुचितैवेति आक्षिप्तपूर्वासु इत्युक्तोऽपि दोषो नास्तीति आशंक्य तमेव दोषं मन्त्रद्वयेन[1] द्रढयन्ति—

शयुः परस्तादध नु द्विमाताऽबंधनश्चरति वत्स एकः ।
मित्रस्य ता वरुणस्य व्रतानि महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।१०।।

शयुरिति । द्विमाता द्वयोर्मात्रोरपत्यभूतस्त्वं शयुः शेत एव न तु किञ्चिदपि चलति, तादृश उत्तानशायी त्वं परस्ताद् भूतो जातः । अधेति पक्षान्तरशंकया[2] नु निश्चितं एक एव वत्सो भवान् अबन्धनः स्नेहकारुण्यबन्धशून्यः चरति । अयं भावः—रामरूपेण सामि गर्भ एव मातरं त्यक्तवान्, कृष्णरूपेण जातमात्र एवेत्यत्यन्तं निरनुक्रोशोऽसीति । अहो आश्चर्यं ता तानि स त्वं मित्रस्य वरुणस्य व्रतानि व्रतफलरूपोऽसि ता इति विधेयापेक्षं बहुत्वम् । मातर्यपि निर्दयं त्वां प्राप्तुं देवा व्रतानि कुर्वन्तीत्याश्चर्यमिति भावः ।।१०।।

द्विमाता होता विदथेषु संम्राळन्वग्रं चरति क्षेति बुध्नः ।
प्ररण्यानि रण्यवाचो भरंते महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।११।।

द्विमानेति । पुनस्त्वं द्विमाता होता धर्मसम्प्रदायप्रवर्तकः विदथेषु संग्रामेषु सम्राट् स्वतन्त्रः । ईदृशोऽपि अग्रं पश्चाद्भवं नन्दादिमनुचरति भवान्, बुध्नश्च वसुदेवादिर्यादववंशो मूलभूतः क्षेति क्षीयते । एवं विपरीतकर्मणोऽपि भवतः रण्यानि रमणीयानि कर्माणि रण्यवाचो रमणीयवाचः कवयो मन्त्रा वा प्रभरंते प्रकर्षेण संचिन्वन्ति, एतदप्याश्चर्यमित्यर्थः ।।११।।

---

१ ख. नास्ति । २ ख. शङ्कायां ।

ननु अशक्ततयाऽहं बाल्ये मातापित्रोः सेवां कर्तुं सन्निधौ वा स्थातुं न समर्थोऽभूवम्, इदानीं तु तथा कर्तुमनुचितमित्याशंक्य बाल्येऽपि महान्ति कर्माणि कुर्वतस्तव किमप्यशक्यं नासीदित्याहुः—

शूरस्येव युध्यतो अन्तमस्य प्रतीचीनं ददृशे विश्वमायत् ।
अन्तर्मतिश्चरति निःषिधं गोर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१२॥

शूरस्येवेत्यादिना । अमि गत्यादिकर्मणि ताम्यति ग्लायतीत्यन्तमः उत्तानशायी शिशुः, अमगत्यादिषु एतत्पूर्वकात् तमु ग्लानौ इत्यतः पचाद्यच्, तस्य शिशोरपि तव अन्तर्मुखमध्ये विश्वं ददृशे दृष्टं मात्रा । कीदृशं प्रतीचीनं प्रतीचिभवं त्वच्छरीरे एव स्थितं न तु दर्पण इव परावृत्तनयनरश्मिभिर्बहिर्निष्ठं संदृष्टमित्यर्थः । आयत् आभिमुख्येन एति प्रविशतीत्यायत् त्वया स्वात्मन्युपसंहृतं, एतेन जगदुत्पत्तिलयाधिष्ठानत्वं स्वतन्त्रत्वं च तव बाल्येऽपि आसीदित्युक्तम् । कीदृशस्य शूरस्य रामादेरिव युध्यतः प्रहरतः पूतनादीन् निघ्नत इत्यर्थः । यतस्त्वमेवंविधोऽतस्त्वयि गोर्मति निःषिधं यथा स्यात्तथा चरति, गोस्तत्त्वमस्यादिवाचः सम्बन्धिनी मतिर्ब्रह्मविद्याख्या चेतोवृत्तिः निःषेधतिर्गत्यर्थः । अवगतिरहितं यथा स्यात्तथा प्रचरति । वृत्तिविषयत्वेऽपि एवंविध इति शृङ्गग्राहिकया ग्रहीतुं न शक्यते, फलात्मत्वेन तद्व्याप्यत्वाभावादित्यर्थः । तं त्वां परमपुरुषार्थभूतमप्यहरतां, देवानामिति प्राग्वत् ॥१२॥

एवं विलप्यापि अक्रूरोपालम्भपूर्वकं स्वस्य कृतार्थत्वमाविष्कुर्वन्ति—

निवेवेति पलितो दूत आस्वन्तर्महांश्चरति रोचनेन ।
वपूंषि बिभ्रदभि नो विचष्टे महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१३॥

निवेवेतीति । पलितो जरठोप्ययुक्तकारीत्याक्षेपः, दूतोऽक्रूरो निवेवेति भृशं गच्छति वेगेनेत्यर्थः । आस्विति गम्यमानं दिक्प्रदर्शनम् । एवमपि यमयं नयति, सोऽस्माकं अन्तश्चरति रोचनेन दीप्यमानेन स्वरूपेण महान् सर्वोत्कृष्टः, अत एव वपूंषि वत्सवत्सपरूपाणि बिभ्रदयमेव नोऽस्मान् कर्त्रादिधर्मकान् अभि अभितः विचष्टे पश्यति प्रकाशयति । अतो यद्यप्येवं कृतार्थाः स्मस्तथापि अस्मदीयं दृष्टसुखमपहरतां देवानामिति प्राग्वत् ॥१३॥

तदेव दृश्यं[1] सुखमुपन्यस्यन्ति—

विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः ।
अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१४॥

विष्णुरिति । विष्णुः कृष्णरूपी गोपाः पालकोऽस्माकं परमं पावनं पाथो यामुनं जलं कालियविषदूषितं पाति कालियनिरसनेन रक्षति निर्दोषं करोति । इदं चैहिकसमस्तदुःखहेतूपमर्द्दोपलक्षणम् । कीदृशः प्रिया प्रियाणि धामानि रम्यानि स्थानानि अमृता अमृतानि ब्रह्मलोकादीनि दधानः स्वशरीरे एव धत्ते इति दधानश्चतुर्दशभुवनानामाश्रय इत्यर्थः । अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद तानि च सर्वाणि धामानि अग्निरस्माकं विज्ञानधातुर्वेदान्ताऽनेकब्रह्माण्डबीजगर्भ-महाफलस्थानीयं समस्तदृष्टदुःखनिवारणं च भवन्तमपहरतां देवानामिति प्राग्वत् । अत्र यो मां पश्यति सर्वत्रेत्यादिशास्त्रोक्तं भिन्नेष्वभेदानुसन्धानं कैवल्यस्य व्यवहितं, भेदस्य प्रत्यक्षत्वादभेदस्य वा हार्यत्वात्, अभिन्ने तु भेदकल्पनं कैवल्य-स्य भेदप्रत्ययाधीनस्य सन्निहिततरं संसारहेतोर्भेदज्ञानस्य च अस्मिन् विप्रकर्षोऽ-स्तीति । एतदेव सर्वं च मयि पश्यतीति शास्त्रप्रसिद्धमस्माकं श्रेय इति भावः ॥१४॥

अहो आश्चर्यं गच्छतो रामकृष्णयोर्मातृभ्यामपि निवारणं न कृतमित्याहुः—

नाना चक्राते यम्या वपूंषि तयोरन्यद् रोचते कृष्णमन्यत् ।
श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१५॥

नानेति । श्यावी कृष्णवर्णा यशोदा अरुषी अरुणा रोहिणी एते उभे स्वसारौ भगिन्यावपि यतः यम्या स्वेन नियन्तुं योग्ये दामबन्धनादिना वपूंषि वपुषी रामकृष्णशरीरे, बहुत्वं छान्दसं, नाना पृथक् चक्राते विक्षिप्तवत्यौ, अन्यत-रापि स्वं पुत्रमहं न प्रेषयामीत्याग्रहं करोति चेदुभयोरपि अत्रावस्थानं भवेदिति भावः । तयोः स्वस्रोर्मध्ये एकस्याः यशोदायाः अन्यत् एकं कृष्णं वपुः रोचते स्वपुत्रत्वात्[2], परिशेषादन्यत् एकं[3] अकृष्णं गौरं एकस्याः रोहिण्याः रोचते, अतस्तयोरपि स्नेहविच्छेदं कारयतां देवानामहदेकमसुरत्वम् ॥१५॥

---

१ ख. दृष्टं । २ ख. नास्ति । ३ ख. एकं वपुः ।

माता च यत्र दुहिता च धेनू सवर्दुघे धापयेते समीची ।
ऋतस्य ते सदसीळे अन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१६॥

मातेति । यत्र यस्मिन्वपुर्द्वये सन्निहिते सति माता च गौर्दुहिता च गौस्ते उभे अपि धेनू दोग्ध्र्यावेव भवतो न तु मातुर्जरार्त्तत्वमदोग्ध्रीत्वं वा आयातीत्यर्थः, सवर्दुघे क्षीरदोग्ध्र्यौ सवरिति म्लेच्छेषु क्षीरनामेति प्राञ्चः, सगर्भाया नामेति तु प्रसिद्धं, तेष्वेव तेन गर्भधारणदशायामपि क्षीरप्रदे इति गम्यते । धापयेते लोकान् वत्सांश्च पाययतः समीची दोग्ध्रीणामनुकूले, तत्र माता दुहितेति च जात्यभिप्रायेणैकवचने, ते उभे अपि ऋतस्य वेदस्य सदसीव सदसि अधिष्ठाने श्रीकृष्णाख्ये ब्रह्मणि अन्तःस्थिते इति शेषः, अत एव ईले स्तौमि । अयम्भावः कृष्णाभिध्यातानां गवादीनां जरादिकं नाऽऽसीत्, अतः परं तद्वियोगे तु तासां दुर्वारमिति व्रजस्योत्कर्षमसहमानानां गोद्रुहां देवानामिति प्राग्वत् ॥१६॥

अन्यस्या वत्सं रिहती मिमाय कया भुवा निदधे धेनुरूधः ।
ऋतस्य सा पयसाऽपिन्वतेळा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१७॥

अन्यस्या इति । अन्यस्याः धेनोः वत्सं रिहती लिहन्ती का धेनुः ऊधः क्षीराशयं निदधे प्रश्रविनं[1] धृतवती न कापीत्यर्थः । अपि च कया भुवा मिमाय मितवती स्वं ऊधः भूपर्यन्तं क्व देशे निनाय क्वचिदपि देशे काले वा इदं न जातमित्यर्थः । व्रजे तु वत्सेषु वत्सपेषु च ब्रह्मणा हृतेषु मायायाः वत्सं श्रीकृष्णं लिहन्ती, सर्वापि धेनुः भुवा सम्मितं ऊधो निदधे वात्सल्यातिशयादिति भावः । सा इळा ऊधस्वती धेनुः ऋतस्य सत्यस्य सम्बन्धिना पयसा साक्षाद् ब्रह्मानन्दरसात्मकेन क्षीरेण अपिन्वत अतर्पयत व्रजस्थं 'जनमिति तादृशं'[2] ब्रह्म अस्मत्तोऽपनयतां देवानां महदेकमसुरत्वम् ॥१७॥

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा ।
ऋतस्य सद्म विचरामि विद्वान् महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१८॥

---

१ ख. निहीनं । २ ख. '—' चिह्नगोऽयमंशो नास्ति ।

पद्येति। पदितुं अभिसारिणीभिरभिसत्तुं योग्या ते तव मूर्तिरूर्ध्वा सर्वसंसार-बहिर्भूतापि पररंजनार्थं पुरुरूपा पुरूणि बहूनि रूपाणि येषां तानि अतिसुन्दराणि वपूंषि शरीराणि वस्ते यावन्त्यो अभिसारिण्यस्तावंति रूपाणि धत्ते इत्यर्थः। ताभ्योऽन्या च मूर्तिरूर्ध्वा अभिसारिणीभिरस्पृष्टा मध्ये तस्थौ स्थिता रासक्रीडा-प्रसङ्गेत्यर्थः। कीदृशानि वपूंषि त्र्यविं रेरिहाणेति त्रीन् प्रदेशान् अवती प्रकाश-वतीति त्र्यविः, पार्श्वद्वयं पुरोभागं चेति त्रयं प्रकाशयन्ती दृष्टिः तां रेरिहाणा लेलिहाना। त्रिष्वपि प्रदेशेषु स्थित्वा ग्रसन्तीत्यर्थः। रासमंडले हि एकैकस्याः गोपिकायाः पार्श्वद्वये कृष्णमूर्तिद्वयं एका च मध्ये सर्वासां साधारणेति प्रदेश-त्रयस्था कृष्णमूर्तिः प्रदेशत्रयगामिनीं दृष्टिं सर्वात्मना ग्रसति। ततोऽन्यद्दृष्टि-गोचरं किमपि न भवतीत्यर्थः, यत् एवं रूपाणि ऋतस्य वेदस्य यज्ञादेर्वा सद्म अधिष्ठानं समर्पणस्थानं वा परब्रह्म अहं विद्वान् विचरामि विशेषेण जानामि। विद्वानिति कृष्णतादात्म्याभिमानात्, स्त्रीभात्वं विस्मृतवती गोपी आत्मानं पुँल्लिङ्गेन विशिनष्टि। यद्यप्येवं तथापि देवानां महदसुरत्वं अस्मदुत्कर्षा-सहत्वात् ॥१८॥

पदे इव निहिते दस्मे अन्तस्तयोरन्यद् गुह्यमाविरन्यत्।
सध्रीचीना पथ्या सा विषूची महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥१९॥

पदे इवेति। अस्यामेव रासक्रीडायां सर्वाः गोपीः परित्यज्य एकां गृहीत्वा किञ्चिद्दूरं गतवान् भगवान् तां श्रान्तामालक्ष्य स्कन्धे समारोपितवान्। ततस्तामपि गर्वितां परित्यज्य गतवानिति स्मर्यते। तत्रेतरा भगवन्तं गतं मृगयन्त्यो वदन्ति, पदे इवेति। पदे गमनसूचके पांसुषु स्पष्टीभूते द्वित्वात् द्वयोर्गमके दृश्येते इति शेषः। कीदृशे ते? दस्मे क्रीडागृहहरूपे वने अन्तर्मार्गमध्ये निहिते स्थापिते, तयोर्द्वयोः पदयोर्मन्ये अन्यदेकं पदं गुह्यं गुप्तं जातम्। तेनानुमीयते यामसौ नीतवान् * सा अनेन स्कन्धे आरोपितेति* अत एव अन्यत्पदं आविः सुस्पष्टं भारवत्त्वात्। अतः सा धन्या या कृष्णस्य सध्रीचीना सहगामिनी यतः पथ्या पथोऽनपेता कृष्णमार्गादस्मद्वदनप्रभ्रष्टा, एवम्भूतापि सा कृष्णेन त्यक्ता सती विषूची विष्वक् इतस्ततः अञ्चति कृष्णमन्वेष्टुं गच्छतीति विषूची

— चिह्नितांशस्थानेऽयमंशः ख. पुस्तके—तामसौ स्कन्धे आरोपितवान्।

दृश्यत इति शेषः। अत एकस्या अप्युत्कर्षमसहमानानां देवानामिति प्रागवत् ।।१९।।

आ धेनवो धुनयंतामशिश्वीः सवर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्या नव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।२०।।

आधेनव इति । येषां देवानामस्मासु महदेकमसुरत्वमस्ति तान् धेनवः आधुनयन्तां आ समन्तान् कम्पयन्तां। कृष्णवियोगातुरा धेनूर्दृष्ट्वापि तेषां कम्पो भूयात्, ता उदीक्ष्य वा ते दयां कुर्वन्त्वित्यर्थः। कीदृश्यः अशिश्वीः अबालाः सवर्दुघा इति पूर्ववत्। शशयाः शे देवानां कल्याणनिमित्ते शेरते ताः शशयाः दशविधहविःप्रदानेन देवांस्तर्पयन्त्य इत्यर्थः। अप्रदुग्धाः दुग्धदोहाः निःसाराः अतद्विधा इत्यर्थः। नव्या नव्याः स्तुत्याः स्तुत्याः युवतयश्च भवन्तीर्भवत्यः अत्यन्तं गुणवत्यः[1] उपकारकाश्च धेनूर्द्विषन्तो देवाः कृतघ्नत्वभयाद्वा उद्विजन्तामित्यर्थः ।।२०।।

योऽस्माकं वल्लभः स एव अस्मासु प्रतिकूलो जातः देवास्तदेकाकाराः सर्वा अस्मदिन्द्रियवृत्तीः पश्यन्तोऽपि न तं अस्मदर्थे प्रार्थयन्ते इत्येतावतैवोपालभ्यन्तेऽस्माभिरित्याहुः—

यदन्यासु वृषभो रोरवीति सो अन्यस्मिन्यूथे निदधाति रेतः ।
स हि क्षपावान् स भगः स राजा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।।२१।।

यदन्यास्विति। यत् यः वृषभः महान् अन्यासु वृषस्यन्तीषु गोष्विवास्मत्सु रोरवीति मुरलीवादनादिशब्दं करोति तेनास्मान् रत्युन्मुखीः करोति, स एव अस्मान् विहाय अन्यस्मिन् यूथे स्त्रीकदम्बे रेतो निदधाति अन्याभ्यो रतिं प्रयच्छति, तेन प्रभुणा वञ्चिता वयं कमन्यं शरण्यं[2] व्रजेमहि। यतः स एव क्षपावान् चन्द्रः स एव भगः सूर्यः स एव च सर्वासां प्रजानां राजा स्वतन्त्रस्तस्मात्तदवयवभूतांस्तत्परिसरवर्त्तिनो देवानेव उपालभेमेत्यर्थः[3] ।।२१।।

---

१ ख. गुणवतीः। २ ख. शरणं। ३ ख. उपालभामहे इत्यर्थः।

यस्मादयं स्वतन्त्रस्तस्मादेनमनुकूलयितुं अस्यैव गुणान् कीर्त्तयाम इत्याहुः—

वीरस्य नु स्वश्व्यं जनासः प्र नु वोचामविदुरस्य देवाः ।

षोळ्हायुक्ताः पञ्च पञ्चा वहन्ति महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२२॥

वीरस्येति । अस्य वीरस्य नु निश्चितं स्वश्व्यं शोभनाश्वत्वमित्युपलक्षणं शोभनायुधत्वादेः भोः जनासः प्रकर्षेण नु निश्चितं किं वोचाम काऽस्माकं शक्तिरस्तीति आशयः । किं तर्हि अयमस्तुत्य एव नेत्याहुः—अस्य एनं देवाः विदुः न तु वयं तत्त्वतो विद्म इत्यर्थः । यत एनं षोल्हायुक्ताः पञ्च पञ्च आवहन्ति पञ्च पञ्च पञ्चविंशतिः संख्याभिमतभोक्त्रात्मसहिताः तत्त्वाभिमानिनो देवाः षोढा षड्भिः प्रकारैः युक्ताः *बद्धाः रथरूपेण योजिताः* सन्त एनं साक्षिणं आवहन्ति तं तं विषयदेशं प्रापयन्ति, तथा च श्रुत्यन्तरम्[1]—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

इत्यात्मादिभोक्त्रन्तानां मिथः सम्बन्धं दर्शयति, एवमेनं विद्वांसो देवा अस्मभ्यमप्येतद्विषयज्ञानं न प्रयच्छन्तीति महदित्यादि पूर्ववत् ॥२२॥

देवानामपि भगवज्ज्ञानं दातुं शक्तिर्नास्तीति आशंक्याहुः—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।

इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२३॥

देव इति । अस्य सम्बन्धी एको देवस्त्वष्टा सविता जगत्प्रसवकर्त्ता अतएव विश्वरूपः पुरुधा बहुप्रकारेण प्रजाः भौतिकीः इमा इमानि विश्वा सर्वाणि चतुर्दशभुवनानि च जजान पुपोष, च यस्मात् एक एव 'देवोऽस्यावयवभूत'[2]

— ख. रथिरथसारथिप्रग्रहहयगोचररूपेण बद्धाः । १ ख. श्रुतिः । २ '—' ख. देवोऽस्य फलोपमस्यावयवभूत ।

ईदृक्कर्मा किमुत सर्वे यदि अनुग्रहं कुर्युस्तदा तद्ज्ञानं सुलभमेव स्यादतो निरनुग्रहाणां देवानां महदित्यादि पूर्ववत् ॥२३॥

दिव्यदृष्ट्या पश्यन्तो भाविनापि कर्मणा भगवन्तं स्तुत्वा उपालभन्ते—

मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुना न्यृष्टे ।
शृण्वे वीरो विन्दमानो वसूनि महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२४॥

मही इति । मही महत्यौ चम्वा चम्वौ कौरव-पाण्डवसेने समीची अन्योन्यं सम्मुखे समैरत् सम्यक् प्रेरितवान् । ते उभे अपि अस्य वसुना बलेन न्यृष्टे प्रचलिते, एवं सर्वचालकोऽप्ययं वीरः वसूनि संग्रामजयलब्धानि धनानि विन्दमानो लभमानः शृण्वे श्रुत इति महदाश्चर्यं, अभिन्नेऽपि भेदं कल्पयतां देवानां महदित्यादि पूर्ववत् ॥२४॥

इमां च नः पृथिवीं विश्वधाया उप क्षेति हितमित्रो न राजा ।
पुरः सदः शर्मसदो न वीरा महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२५॥

इमामिति । इमां पृथिवीं विश्वं धीयतेऽस्यामिति विश्वधायसं द्वितीयार्थे प्रथमा । बहुभराक्रान्तां च पृथिवीं नो अस्माकं धारयित्रीं उपक्षेति उपेत्य पालयति । हितमित्रो न हित इव मित्रमिव च राजा रञ्जकः हितः श्रेयोऽर्थी पुण्यप्रवर्तनेन मित्रं दुःखात् त्राणकृत् भारापहरणेनेति विवेकः । यद्यपि खलनिग्रहः प्रयोजने तेनापि सुकृतं भवत्येव तथापि शर्मसदः कुशलार्थं सीदन्तः समासन्नाः परकल्याणकारिणो ब्रह्मलोके पुरःसदः ब्रह्मसमीपस्थायिनः न तु वीराः सृता[1] अपि किमुत जीवन्त इत्यर्थः । तेनाऽस्मत्त्राणजं फलं महदुपेक्ष्य स्वकार्ये शत्रुनिग्रहे कृष्णं योजयतां, देवानामित्यादि पूर्ववत् ॥२५॥

निःषिध्वरीस्त ओषधीरुतापो रयिं त इन्द्र पृथिवी बिभर्ति ।
सखायस्ते वामभाजः स्याम महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२६॥

निःषिध्वरीरिति । निःषिध्वरीः निश्चयेन गत्वराः 'षिधु गतौ' इत्यस्मात् क्वरप्, ओषधीः ओषधयश्च ते तवैव उत आपः आपोऽपि तवैव, तथा रयिं धनंच

---

१ ख. मृता ।

ते तवैव[1] हे इन्द्र पृथिवी विभर्त्ति, यत् किञ्चित् पृथिवी धारयति, तत्सर्वं त्वदीयमेव, अतस्त्वं वसूनि जयसीत्येतदयुक्तम्। अथापि यत्किञ्चिद्व्याजेन अस्मांस्त्यजसि तर्हि *यत्प्रार्थयामस्ते तुभ्यं तन्नो देहीत्याशयेन* आहुः—सखायस्त इति। ते तव नित्यसिद्धेश्वरस्य उपासनादैश्वर्यं प्राप्ता वयं सखायस्तं यथा यथोपासते तथैतः प्रेत्य भवतीति श्रुतेस्त्वत्सारूप्यप्राप्त्या निरस्तस्त्रीभावाः, अत एव सखायस्तव मित्राणि सन्तः वामं उपासनाफलं ऐश्वर्यं भजन्ति ते वामभाजः स्याम भवेम। भोगमात्र-साम्यलिङ्गाच्चेति शास्त्रान्त्यन्यायेन वयमपि त्वद्वत् सत्यसंलापाद्यैश्वर्यमनुभवेम। तत्र च देवानामसुरत्वं एकं महद्विघ्नकरमस्ति तन्निवारणेन अस्मांस्त्राहीति भावः। एवं च कैवल्यापेक्षया शेषार्जुनादिकृता सख्यात्मिका भक्तिरेव श्रेयसीति दर्शितम् ॥२६॥

अथ रामकृष्णावादाय मथुरां गच्छताऽक्रूरेण स्नानकाले यमुनायां जातं भगवद्दर्शनं आत्मनः कीर्त्यते—

सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे ॥२७॥

सप्तमेति। सप्त सप्त संख्याः एकोनपञ्चाशन्मरुतः प्राणायामदेवताः अघमर्षणकाले प्रसन्नाः सन्तः एकमेका एकमेकं सुपो डादेशः प्रत्येकमित्यर्थः। शता शतानि ऐश्वर्याणि ददुः दत्तवन्तः, 'शतमैश्वर्यं भवती'ति **यास्कः**। यतः अधिश्रुतं सर्वापेक्षया उपरिश्रुतं वेदादाकलितं राधो वित्तं एषाऽस्य परमा सम्पदित्युपनिषत्प्रसिद्धं भूमसंज्ञं ब्रह्मलोके च रामकृष्णवेषं यमुनायां 'मृजे मार्गयामि'[2] पश्यामीत्यर्थः। तदेव राधः उत् ऊर्ध्वं आकाशे गव्यं गोषु सूर्यरश्मिषु स्थितं सूर्यमण्डलेऽपीत्यर्थः। तत्रापि सूर्योपस्थानकाले मृजे तदेव च राधः अश्व्यं अश्ववाह्ये रथे स्थितं नि निहीने भूस्थानेऽपि मृजे। अत्र ऊर्ध्वदर्शनं पुराणेनोक्तम्। एकस्य राधसो दर्शनेन सर्वकर्मफलाप्तिश्च सूचिता ॥२७॥

अक्रूरजप्यं षडक्षरं मन्त्रं दर्शयति वेदः—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥२८॥

---

१ ख. तवैव स्वभूत। *—* ख. यत्तुभ्यं प्रार्थयामस्तदस्मभ्यं देहीत्याशयेन।
२ '—' ख. अघमर्षणकाले मृजे मृगये।

विष्णोरिति । विष्णोर्वीर्याणि वीर्योपलक्षितं पुत्रं कामं बहुत्वं पाशन्यायेनावयवाभिप्रायं, वाच्यवाचकयोरभेदात् तत्प्रतिपादकं शब्दं प्रवोचं[1] प्रकर्षेण उक्तवानसि । तमेव दर्शयति—य इति । यो विष्णुः कं पार्थिवानि रजांसि च विममे । कमिति व्यञ्जनमात्रं निःस्वरं अतो विभक्तिस्वर एवाऽत्र शिष्ट इत्यनुदात्तम् । पृथिवी देवता येषां तानि पार्थिवानि बहुत्वं पूजायां तेन लमिति पृथिवीबीजमुद्धृतं भवति । रञ्जयन्ति, इष्टप्रदानेन इति रजांसि रञ्जकानि विममे शब्दितवान् एकीकृत्येति शेषः । यश्च शब्दस्य प्रमाता उत्तरं उत्कृष्टतरं सधस्थं स्थानं अधिष्ठानं अस्कभायत् स्तम्भितवान् । तेन 'तत्त्वात्मानः स्मृताः स्पर्शा मकारः पुरुषो यत' इति स्मृतेर्मकारमप्यत्रावरुद्धवान् । एवं ककार-लकार-मकारेषु उद्धृतेषु इकारमुद्धरति, त्रेधो विचक्रमाण उरुगाय इति । अस्मिन्नेव मातृकारूपे जगदण्डे त्रेधा विचक्रमाणः त्रीन् वर्णान् अ आ इ एतान् लंघयन् चतुर्थ ऊरुगायो दीर्घतया गीयते, ईकारस्तद्रूपोऽयमित्यर्थः । अत्र यद्यपि उद्धारक्रमे मकारात्परत ईकारो दृश्यते तथापि मकारस्य उत्तरमिति विशेषणात् ततः पूर्वत्वं, तेन ककार-लकार-ईकार-मकार-संघातात्मकं कामबीजं विष्णोर्वीर्यमुद्धृतं भवति ।।२८।।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।।२९।।

प्रतदिति । विष्णुः वीर्येण कामबीजेन सह उच्चारितं तत्पदं प्रस्तवते प्रकर्षेण स्तौति । तत् किम् ? यस्य वाच्योऽर्थः मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठा इति । यथा भीमो भयंकरो मृगः सिंहः तद्वद् दुष्टान् मर्दयन्नित्यर्थः । कुचरः कौ पृथिव्यां भूतपूर्वः भुवि कृतावताराः, कुचतारशब्दे दीर्घ शब्दं मुरलीरवं कुर्वाणो वा, गिरिष्ठाः गिरौ गोवर्द्धने तिष्ठतीति तादृशः तेन कृष्ण इति पदं लक्ष्यते । यद्यपि गिरिष्ठत्वं रुद्रस्य नृसिंहस्य वाऽस्ति तथापि तयोर्वीर्यसाहचर्याभावान्नात्र ग्रहणं युज्यते । यस्य विष्णोर्वामनावतारे ऊरुषु महत्सु त्रिषु विक्रमेषु पादविक्षेपेषु विश्वा भुवनानि चतुर्दशभुवनलोकाः अधिक्षियन्ति संक्षिप्यन्ते, तावन्मध्येऽधिवसन्ति वा ।।२९।।

चतुर्थी-नमः-शब्दावुद्धरति—

---

१ ख. प्रवोचं प्रावोचं प्रोक्तवान् ।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥३०॥

प्रविष्णव इति । तस्मै गिरिष्ठाय विष्णवे शूषं सर्वप्रसवक्षमं मन्म मनुतेऽनेनेति मन्म हृदयं प्रैतु प्रकर्षेण गच्छतु । अत्र हृदयशब्देन नमः शब्दे उच्यते तत्संयोगात् विष्णवे इति द्वितीयास्थानेऽपि चतुर्थ्यामनुकरणाच्च कृष्ण-शब्दाच्चतुर्थी ग्राह्या, तेन कृष्णाय नम इत्युद्धृतं भवति । गिरिक्षिते गोवर्द्धन-नाथाय उरुगायाय महाकीर्त्तये वृष्णे अभिमतफलवर्षुकाय यो विष्णुः इदं दीर्घं महद्वाच्यं वाचकं च प्रयतं प्रकर्षेण निगृहीतं सत् सधस्थं जनानां विद्यानां वा स्थानं भुवनकोशं वाङ्मयं च एको विममे । त्रिभिरित्पदेभिः त्रिभिरेव पदैः प्रक्रमैः 'क्लीं कृष्णाय नम' इत्येतैर्वा विममे विशेषेण परिमितवान् तस्मै मन्म एतु इति सम्बन्धः । अस्यैव मन्त्रस्य माहात्म्यं आस्य जानन्तो नामचिद् विवक्तुमित्यन्तैर्मन्त्रैः क्रियत[1] इति मुक्तिकामैरयमुपास्यः ॥३०॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धर चतुर्द्धर-वंशावतंस-
गोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतौ स्वोद्धृतमन्त्रभागवतव्याख्यायां
मन्त्ररहस्यप्रकाशिकायां काण्डस्तृतीयः[2] समाप्तः ।

———

१ ख. कथ्यत । २ ख. अक्रूरकाण्डस्तृतीयः ।

४. मथुराकाण्डम्

अथ मथुरां प्रविष्टयोः रामकृष्णयोः रजकमालाकारादिषु निग्रहानुग्रहादिकं प्राह—

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः ।
अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ॥१॥

युवमिति । भो मित्रावरुणौ पूर्वपश्चिमौ अन्तर्यामिसूत्रात्मानौ यो देवानां नामधा एक एवेति सर्वदेवतानामभिस्तयोरभिधेयत्वस्य प्रागेव दर्शितत्वात् युवं युवां वस्त्राणि परकीयानि पीवसा बलेन वसाथे स्वां तनुं छादयथः । कंसस्य रजकं हत्वा तदीयानि वस्त्राणि बलाद् गृहीतवन्तौ इति प्रसिद्ध, तथा युवोर्युवयोर्मन्तवः मानयितारः सर्गाः सृजन्ति दिव्यं स्रगनुलेपनादि ते सर्गाः मालाकारकुब्जादयः अच्छिद्राः पूर्णा जाता इति शेषः । आत्मलाभादेव हि पूर्णत्वं भवति नान्यथेति, ते कृतकृत्या जाता इत्यर्थः । तथा विश्वा[1] सर्वाणि अनृतानि आत्मनि गोपत्वं द्रुमिलपुत्रे कंसे च यादवत्वं मल्लमतंगजादिषु भयंकरत्वमित्येतानि अवातिरतं तीर्णवन्तौ । तथा ऋतेन स्वीयेन सत्येन यादवत्वेन सचेथे संगतवन्तौ । गोपछद्म विहायेतरांश्चानृतप्रधानान्निहतवन्तावित्यर्थः ॥१॥

तत्र कंसवधप्रकारमाह—

इन्द्रो विश्वैर्वीर्यैः पत्यमान उभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
पुरन्दरो वृत्रहा धृष्णुषेणः संगृभ्या न आ भरा भूरि पश्वः ॥२॥

इन्द्र इति । विश्वैः कृत्स्नैः वीर्यैः बलैः पत्यमानः पतन्, अर्थात् मञ्चादधःपातितस्य कंसस्योपरीति पुराणाल्लभ्यते । महित्वा माहात्म्येन गुरुत्वेन उभे

---

१ ख. इतः परमयमंशो विशेषः—ऋकार उदये कण्ठ्यावकारमिति संहितायां ह्रस्वत्वं विश्वऋतेनेति ।

रोदसी द्यावापृथिव्यौ आपप्रौ पूरितवान्, त्रैलोक्यस्य स्वान्तर्गतस्य भारं क्षिप्तवानित्यर्थः। अत एव पुरं शरीरं दारयतीति पुरन्दरः शत्रुशरीरविदारकः, तत एव च वृत्रहा धर्मपिधातुः कंसस्य हन्ता, धृष्णुर्विश्वपालनक्षमा सेना समूहो यस्य स धृष्णुषेणः, एवम्भूत इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं महाविष्णो भूरिपश्वः बहून्, पशुप्रायान् असुरान् संगृभ्य संगृह्य निगृह्य इत्यर्थः। नः अस्मान्, आभर साकल्येन पालय ॥२॥

ऋषभं मा समानानामिति मन्त्रैः प्रागुदाहृतं राजराज्यप्रार्थनं तदधुना शक्रादयः कृष्णाय सम्पादयन्तीत्याह—

यशस्करं बलवन्तं प्रभुत्वं तमेव राजाधिपतिर्बभूव।
संकीर्णनागाश्वपतिर्नराणां सुमंगल्यं सततं दीर्घमायुः ॥३॥

यशस्करमिति। द्वितीयाः प्रथमार्थे राजाधिपतिः नराणां मध्ये यशस्करौ बभूव, यद्वा यो यशस्करः बलवान् प्रभुत्वात् स राजाधिपतिर्बभूवेत्यर्थः। स एव संकीर्णनागाश्वपतिः सन् नराणां सततं सुमंगल्यं दीर्घमायुश्च दत्तवान् ॥३॥

यो धर्त्ता भुवनानां य उस्राणामपीच्या वेद नामानि गुह्या।
स कवि. काव्या पुरु रूपं द्यौरिव पुष्यति नभन्तामन्यके समे ॥४॥

यो धर्त्तेति। यो विष्णुः भुवनानां भूरादीनां धर्त्ता, यश्च उस्राणां गवां अपीच्या अमीच्यानि रम्याणि तत्तद्गुणविशेषकृतानि नामानि वेद जानोते गुह्या गुह्यानि। यथोक्तं भारते—

ऋषभानपि जानामि समकपूजितलक्षणात्।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥

इत्येवं गवामपि गोप्यानि नामानि सन्तीत्यूह्यम्। स कविः सर्वज्ञः काव्या-काव्यं कवीनां स्तुत्यं पुरु बहुविधं रूपं पुष्यति आदाय पुष्टं च करोति। तत्र दृष्टान्तः—द्यौरिवेति। यथा द्युस्थाः देवाः प्रतियजमानं रूपभेदान् कृत्वा युगपदनेकान् यज्ञान् गच्छन्ति, तद्वदित्यर्थः। नभन्तामिति प्राग्वत् ॥४॥

यस्मिन् विश्वानि काव्येति मन्त्रः प्राग्व्याख्यात *इत्युपेक्ष्य तदनन्तरमंत्रं व्याचष्टे* —

य आस्वत्क आशये विश्वा जातान्येषाम् ।
परि धामानि मर्मृशद् वरुणस्य पुरो गये विश्वे देवा अनु व्रतं
नभन्तामन्यके समे ॥५॥

य आस्विति । *आशये आशेरतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गृहे यः *[1] आसु गृहिणीषु आसां समीपे अत्कः अतति सततं गच्छति विद्यत इत्यत्कः, युगपत्सर्वासु सन्निहितो योगेन, तथा एषां सन्निहितानां भ्रात्रादीनां विश्वा सर्वाणि जातानि जन्यमात्राणि स्वभूतानि सर्वे पर्याप्तसर्वकामा इत्यर्थः। वरुणस्य अपां पतेः गये प्राणा 'वै गया' इति श्रुतिः। प्राणभूते समुद्रे पुरोदेशे पश्चिमसमुद्रस्य पूर्वस्यां दिशि समीपे द्वारकायामित्यर्थः। धामानि स्त्रीणां बन्धूनां च परितः मर्मृशत् अतिशयेन परामृशत्, सर्वेषां गृहकृत्यं विचारयन् आस्ते। तत्र दृष्टान्तः—यथा विश्वे देवाः अनुव्रतं प्रतिव्रतं सर्वेषां यजमानानां गृहं गृहं प्रतीत्यर्थः, तथा यो योगेन प्रतिगृहं आस्ते तदीयानामस्माकं, नभन्तामन्यके समे ॥५॥

अथास्य स्त्रीणामैश्वर्यं वर्णयति, पारिजातहरणे नारदवाक्यम्—

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितमोजो दासस्य दम्भय ।
वयं तदस्य सम्भृतं वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे ॥६॥

अपि वृश्चेति । हे भगवन् गुष्पितं पुष्पितं पारिजातद्रुमं व्रततेरिव लतायाः सकाशात् पुष्पगुच्छमिव दिवः सकाशादपि वृश्च आच्छिन्धि, पुराणवत् विष्णुवत् अदितिपुत्रत्वेन इन्द्रस्यांशहारी भूत्वेत्यर्थः। दासस्य विघ्नकर्त्तुरिन्द्रादेश्च ओजः सामर्थ्यं दम्भय नाशय। वयं ऋषयः तत्प्रसिद्धमस्य बुद्धिस्थस्य अनेन कश्यपेन पित्रा संभृतं सञ्चितं पारिजाताख्यं वसु धनं इन्द्रेण सार्द्धं तव विभजेमहि विभागं करिष्यामः। ऐरावतादीनामुपभोगमिन्द्रादयः कुर्वन्तु, पारिजातं तु त्वदीयमंशं दापयिष्याम इत्यर्थः। तेन पारिजातहरणं शक्रमदभङ्गश्च प्रोक्तः। नभन्तामिति प्राग्वत् ॥६॥

— चिह्नितांशस्थाने ख. पुस्तकेऽयमंशः—तदनन्तरमन्त्रं स्पष्टार्थः।

१ *—* चिह्नितस्थानेऽयमंशः ख. पुस्तके—आशेरतेऽस्मिन्नित्याशये गृहं तत्र यः।

तदेवं सन्निहितानां मनोरथपूरणं कृतं देशान्तरस्थानामपि तत्कृतमित्याह—

वासयसीव वेधसस्त्वन्नः कदा न इन्द्रवचसो बुबोधः।
अस्तं तात्या धिया रयिं सुवीरं पृक्षो नो अर्वा न्युहीत वाजी ॥७॥

वासयसीवेति। द्रौपदीवाक्यमिदं, हे वेधस इन्द्रब्रह्मणोपि परमेश्वरत्वं नः अस्मान् कौरवसभायां दुःशासनेनोपस्पृष्टवस्त्रान् बहुत्वं पूजायां, वस्त्रान्तरैर्वासयसीव आच्छादयसीव। ऊर्ध्वोर्ध्ववस्त्रापगमे अन्तरन्तराच्छादितमेव आत्मानं पश्यामि न तु आच्छाद्यमानमित्यर्थः। तेन वासयसीत्यनुमीयत इत्यर्थः। नः अस्माकं वचसः प्रार्थनावाक्यं दूरदेशस्थो भवान् कदा बुबोध ज्ञातवानसि। त्राहीति वाक्योच्चारणात् प्रागेव त्राणं कृतवानसीत्यर्थः। किञ्च अस्तं गृहं रयिं राज्यादिकं धनं सुवीरं परीक्षिदाख्यं पुत्रं च तात्या पालनेन धिया बुद्धिसाचिव्येन च पृक्षः पृतनाः क्षिणोतीति शत्रुसैन्यं संहर्त्ता अर्वानित्यसन्निहितः वाजी वेगवान् नः अस्मान् उहीत अवहत् प्रापितवान्। जयद्रथवधादौ हि प्रतिज्ञाभङ्गादर्जुननाशे पाण्डवानां गृहमेव उच्छिन्नं स्यादतो गृहस्य संरक्षणं त्वयैव कृतमित्यर्थः[1] ॥७॥

अग्निप्रसादात् स्वस्य उत्पन्नत्वात् अग्न्युपाधिकमेव भगवन्तं स्तौति द्रौपद्येव—

मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः ॥८॥

मा नो अग्न इति। हे अग्ने नो अस्मान् अवीरते अविक्रान्ताय अर्जुनादन्यस्मै स्वयंवरकाले मा परादा न पराकृत्य दत्तवानसि, तथा दुर्वाससे ऋषये वने दुर्योधनवचनादकालेऽभ्यागताय षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, तस्य अमतये विरोधिबुद्धये यद्यकालेऽपि गतं मां शिष्यैः सहितं न भोजयिष्यति तर्हि सर्वान् पाण्डवान् शापेन भस्मीकरिष्यामीत्येवंरूपायै अस्यै बुद्धिस्थायै नो मादाः मा नः क्षुधे वने सूर्यप्रसादात् क्षुत् दुःखायापि नः मादाः मा रक्षसे भीमार्जुनयोः परोक्षं धर्मराजं मां च हृतवते ब्राह्मणरूपाय रक्षसे नोऽस्मान् मादाः, हे ऋतावः ऋतेन सत्येन वाति चरतीति ऋतस्य सम्बोधनं हे ऋतावः[2] सत्यपक्षपातिन् दमे गृहे कौरवसभायां नो

१ ख. कृतमन्यदपि ज्ञेयम्। २ ऋतवः दैर्घ्यं सांहितिकम्।

अस्मान् मा आजुहूर्थाः न प्रसह्य हृतवानसि । दुःशासनादिद्वारा तथा वनेऽपि जयद्रथद्वारा मा न आजुहूर्थाः, तत्र तत्र हन्तुमागतेषु शत्रुषु रक्षितवानसीत्यर्थः ।।८।।

अथ हरिवंशे उपबृंहितां भगवतः समुद्रे सलिलक्रीडामनुवर्णयति मन्त्रः—

उत्समुद्रान्मधुमाँ ऊर्म्मिरागात् साम्राज्याय प्रतरां दधानः ।
अमी च ये मघवानो वयं चेषमूर्जं मधुमत्संभरेम ।।९।।

उत्समुद्रादिति । समुद्रात् क्षारोदकादपि मधुमान् अमृतमयः ऊर्म्मिः उदगात् सर्वतः उद्गतः, स च साम्राज्याय सम्राट् सर्वराजाधिराजो हरिः तस्येदं लीलाकर्मसाम्राज्यं तस्मै कृष्णस्य क्रीडार्थं प्रतरामिति प्रकर्षेण दधानः, स एव समुद्रस्तमूर्मिं विपुलतरं कृत्वा धत्त इत्यर्थः । अमी च मघवानो[1] इन्द्रतुल्या ये वा सन्ति, वयं च मानुषाः सर्वे सहैव इह इषं अन्नं ऊर्जं रसं च मधुमत् अमृतवत् सम्भरेम विहारे स्वीकुर्मः[2] ।।९।।

एवं समुद्रे क्रीडता भगवता स्वलोकं प्रत्यपि गतमित्याह—

स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे ।
स माया अर्चिना पदाऽस्तृणान्नाकमारुहन्नभंतामन्यके समे ।।१०।।

स इति । यो विष्णुना क्रीडापुष्करिणीकृतः सः प्रसिद्धः समुद्र अपीच्यः रम्यतमः तुरो वेगवान् द्यां रोहतीव स्वर्गापेक्षया स्वस्याधिक्यं दर्शयतीव यत् यतः आसु सामुद्रीषु अप्सु यजुः इत्संज्ञ इति यजुर्यज्ञेश्वरो भगवान् निदधे स्वयमेन क्रीडार्थं स्वात्मानं स्थापितवान्, स यजुःशब्दितः मायाः अपरिमितस्त्रीपुत्रबन्ध्वादिरूपेण प्रदर्शिताः अस्तृणात् हिंसितवान्, सर्वासां मायानामुपसंहारं चकारेत्यर्थः । मायाः पूतनावधादिलीलाः अस्तृणात् विस्तारितवान् इति कस्तत्र हेतुः ? अर्चिना पदेति, अर्चिना पूज्येन अर्चिरादिमार्गपर्ववता वा पदेन वैकुण्ठाख्यस्व स्थानेन तत्प्रापयितुमित्यर्थः । ततश्च स्वयमपि[3] नाकं आरुहत् स्वर्गमारूढवान् । तमेवं कीर्त्तयते मम कामक्रोधाद्याः समे सर्वे अन्यके कुत्सिताः शत्रवो नानायोतिप्रदत्वात् नभन्तां मा भूवन् नश्यन्तामित्यर्थः । ततश्च निर्विघ्नेन वयमपि भगवत्स्वरूपानन्दं प्राप्स्याम इति भावः ।।१०।।

---

१ ख. पुरोवर्त्तिनो मघवानो । २ इतः परमयमंशो विशेषः—स्वार्थमीश्वरार्थं चेति भावः ।
३ ख. स्वयमपि ताभिर्भार्याभिः सह ।

वाक्यार्थे व्यास-वाल्मीकी पदार्थे यास्क-पाणिनी
रामकृष्णकथां मन्त्रैर्गायतो मम नायकौ ॥१॥
[1]एतच्छतद्वयमृचां रामकृष्णकथानुगम् ।
दर्शितं भगवांस्तेन तुष्यतात् सात्वताम्पतिः ॥२॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धर-चतुर्द्धर-वंशावतंस-गोविन्दसूरिसूनोः नीलकण्ठस्य कृतौ स्वोद्धृतमन्त्रभागवतव्याख्यायां मन्त्ररहस्यप्रकाशिकायां मथुराकाण्डश्चतुर्थः समाप्तिमगमत्, समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

---

१ ख. सार्द्धं शतद्वयमृचां ।

मन्त्रानुक्रमणिका

उक्त अनुक्रमणिका में २ मंत्रों के अतिरिक्त सभी मंत्र ऋग्वेद के ही हैं ।

हमारे नवीनतम प्रकाशन

नाम	सम्पादक	मूल्य
१. बालशिक्षा-व्याकरणम्	मुनि श्री जिनविजय	७–७५
२. नृत्यरत्नकोशः, भाग २	श्री आर० सी० परीख	६–७५
३. चान्द्र-व्याकरणम्	पं० बेचरदास जे० दोसी	७–००
४. गोरा-बादिल-चरित्र	मुनि श्री जिनविजय	४–००
५. हम्मीरमहाकाव्यम्	मुनि श्री जिनविजय	१५–००
६. मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग ४	श्री बदरीप्रसाद साकरिया	८–७५
७. मधुमालती सचित्र कथा	डॉ० फतहसिंह	१८–७५
८. आगमरहस्यम्-पूर्वार्द्धम्	श्री गङ्गाधर द्विवेदी	१५–००
९. शकुनप्रदीपः	डॉ० फतहसिंह	१–००
१०. पाख्यरत्नकोशः	श्री गोपालनारायण बहुरा	३–५०
११. ए केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स पार्ट III-B	श्री मुनि जिनविजय	४८–७५
१२. नन्दोपाख्यान	डॉ० फतहसिंह	१–००
१३. राठौड़ां री वंशावली एवं राठौड़ वंश री विगत	डॉ० फतहसिंह	२–१५
१४. चण्डीशतकम् टीकाद्वयसहितम्	श्री गोपालनारायण बहुरा	५–२५
१५. कविकौस्तुभम्	डॉ० फतहसिंह	२–००
१६. मीरां बृहत्पदावली, प्रथम भाग	पुरोहित हरिनारायण	७–५०
१७. स्थूलिभद्रकाकादि	डॉ० आत्माराम जाजोदिया	१–७५
१८. राजस्थानी वीरगीत-संग्रह, प्रथम भाग	श्री सौभाग्यसिंह शेखावत	६–५०
१९. गजगुणरूपकबन्ध	श्री सीताराम लालस	९–००
२०. वैताल-पचीसी	डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया	३–५०
२१. मारवाड़रा परगनां री विगत, प्रथम भाग	डॉ० नारायणसिंह भाटी	१५–५०
२२. राजस्थानी वीरगीत-संग्रह, द्वितीय भाग	श्री सौभाग्यसिंह शेखावत	६–२५
२३ देवीचरित्र, प्रथम भाग	श्री हुक्मचन्द चतुर्वेदी	१३–२५
२४. राजनीति रा कवित्त	डॉ० नारायणदत्त श्रीमाली	५–००
२५. सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक	डॉ० फतहसिंह	५–००
२६. शङ्करीसङ्गीतम्	श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी	१–२५
२७ संघपति रूपजी वंश-प्रशस्तिः	महोपाध्याय विनयसागर	१–२५
२८. सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्	महोपाध्याय विनयसागर	११–५०
२९. पथ्यास्वस्तिः (हिन्दी-व्याख्या सहिता)	श्री सुरजनदास स्वामी	६–००
३०. आगमरहस्यम्-उत्तरार्द्धम्	श्री गङ्गाधर द्विवेदी	११–७५
३१. मारवाड़रा परगनां री विगत, द्वितीय भाग	डॉ० नारायणसिंह भाटी	१२–५०

प्राप्ति स्थान—

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राजस्थान)